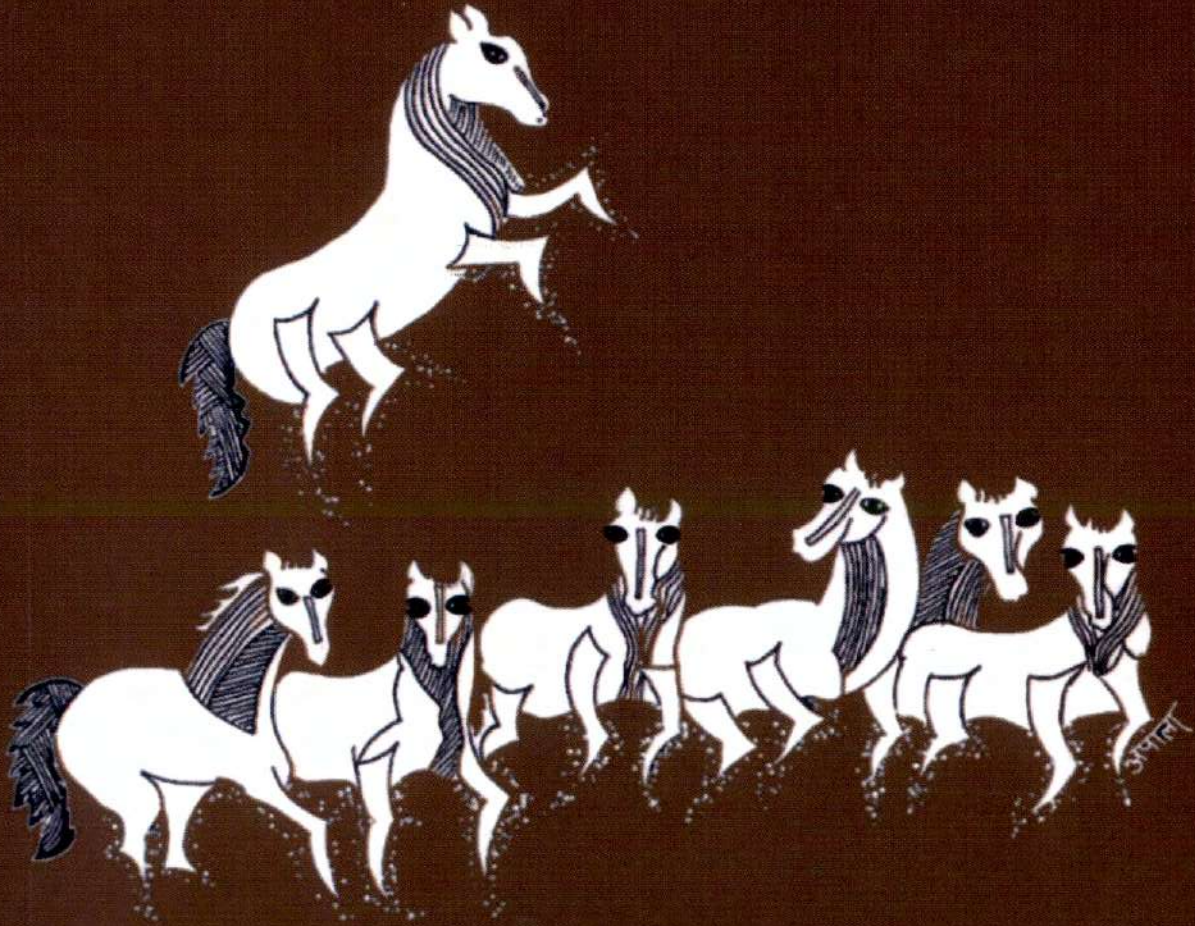


आजकल

1945 से निरंतर प्रकाशित

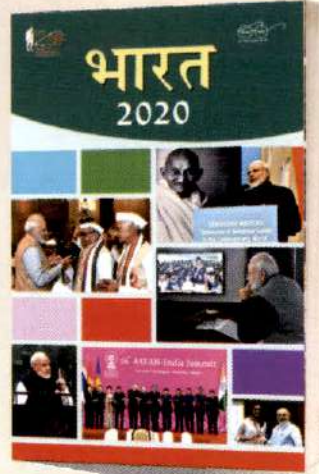
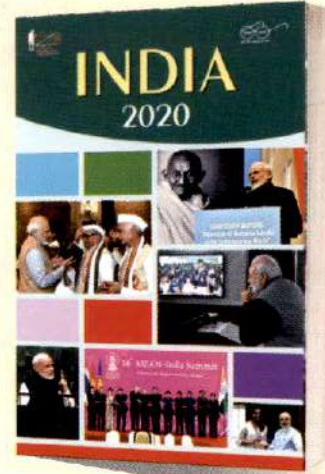
साहित्य और संस्कृति का मासिक



- प्रताप सहगल ● अरविन्द मोहन ● भारत भारद्वाज ● मंगलेश डबराल ● प्रेमकुमार मणि ● सुषमा मुनीन्द्र
- ध्रुव शुक्ल ● अवधेश अमन ● उपेंद्र कुमार ● सुधीर सक्सेना ● संजय कृष्ण ● विजयशंकर मिश्र
- श्रीचिलास सिंह ● शिव कुमार पराग ● नवनीत पाण्डे ● राजेश झरपुरे और अन्य

अब प्रिंट संस्करण और ई-बुक संस्करण उपलब्ध

भारत 2020



भारत सरकार की नीतियों, कार्यक्रमों और
उपलब्धियों की आधिकारिक जानकारी देने वाला
वार्षिक संदर्भ ग्रंथ

मूल्य: प्रिंट संस्करण ₹ 300/- ई-बुक संस्करण ₹ 225/-

पुस्तकें खरीदने के लिए प्रकाशन विभाग की
वेबसाइट : www.publicationsdivision.nic.in पर जाएं

ई-बुक एपेज़ॉन और गूगल प्ले पर उपलब्ध

देश भर में प्रकाशन विभाग के विक्रय केन्द्रों और
पुस्तक विक्रेताओं से भी खरीद सकते हैं



ऑर्डर के लिए संपर्क करें :

फोन : 011-24367260, 24365610

ई-मेल : businesswng@gmail.com

हमारी पुस्तकें ऑनलाइन खरीदने के लिए

कृपया www.bharatkosh.gov.in पर जाएं।

प्रकाशन विभाग

सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय,

भारत सरकार

सूचना भवन, सी जी ओ कॉम्प्लेक्स,

लोधी रोड नई दिल्ली -110003

वेबसाइट : www.publicationsdivision.nic.in

सूचना भवन की पुस्तक दीर्घा में पधारें

ट्विटर पर फोलो करें @DPD_India

लेख

आजादी का स्वप्न और 'मैला आँचल' का यथार्थ : प्रेमकुमार मणि	7
जनक्रांति का बिगुल फूँकता कवि : नीरज कुमार मिश्र	25
गत्यात्मक आधुनिकता और यथार्थपरकता के मूर्तिकार : अवधेश अमन	27
पंजाबी ओपेरा का पर्याय : प्रताप सहगल	30
गोपाल गहमरी और 'समालोचक' : संजय कृष्ण	32
लघु पत्रिकाएँ : अवधारणा और परंपरा : भारत भारद्वाज	42
भारत में ममी : राधाकांत भारती	44
संत कवियों की कविताओं में लोक-संस्कृति : अखिलेश आर्येन्दु	45
भारतीय संविधान के मुख्य शिल्पी : आंबेडकर : डब्ल्यू.एन. कुबेर	46
संगीत आजकल : कला में तकनीक और शास्त्र : पं. विजयशंकर मिश्र	52

मूल्यांकन

कविता में नारे लिखता रचनाकार : मंगलेश डबराल	47
स्त्री कविता में अनुभव और अनुमान का फर्क : सुधा उपाध्याय	49

कहानी

साध : सुषमा मुनीन्द्र	18
बूढ़ी : राजेश झरपुरे	36

कविताएँ/गीत

पाँच कविताएँ : सुधीर सक्सेना	21
तीन कविताएँ : उपेंद्र कुमार	22
चार कविताएँ : गोबिन्द प्रसाद	23
चार कविताएँ : श्रीविलास सिंह	24
एक कविता : राग रंजन	38
दो कविताएँ : नवनीत पाण्डे	38
पाँच कविताएँ : निखिलेश्वर प्रसाद वर्मा	39
दो कविताएँ : सुशील मानव	40
तीन कविताएँ : जसवीर त्यागी	41
गीत : शिव कुमार पराग	51

साक्षात्कार

दुख सहजता है : मनोज मोहन (स्व. गंगा प्रसाद विमल से बातचीत)	29
---	----

श्रद्धांजलि

वैद वेदना : ध्रुव शुक्ल	11
गिरिराज किशोर की रचना-यात्रा : राकेश शुक्ल	13
'पहला गिरमिटिया' के बरक्स 'कस्तूरबा' : अरविन्द मोहन	15

पुस्तक परिचय

भगत सिंह : खंड 1 से 4	
नील की खेती और चंपारण सत्याग्रह : कांता रानी	54

ISSN-0971-8478

पृष्ठ 56

आजकल

स्थापित 1945

वर्ष : 75, अंक : 12

पूर्णांक : 905

अप्रैल, 2020

चैत्र-वैशाख 1941-42

प्रधान संपादक

राकेशरेणु

संपादक

फरहत परवीन

संपादन सहयोग

शुभा सिंह

आवरण : अपाला वत्स

आवरण सज्जा : राजेश कुमार

संपादकीय पत्र व्यवहार :

संपादक

आजकल, प्रकाशन विभाग

कमरा नं. 601डी, सूचना भवन

सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड,

नई दिल्ली-110003

फोन : 2436 2915

ई.मेल : ajkalhindi@gmail.com

website : www.

publicationsdivision.nic.in

फेसबुक www.facebook.com/

publicationsdivision



संयुक्त निदेशक (उत्पादन)

वी. के. मीणा

सदस्यता शुल्क :

वार्षिक : 230 रुपये,

दो वर्ष : 430 रुपये

तीन वर्ष : 610 रुपये

सदस्यता संबंधी पूछताछ :

व्यापार व्यवस्थापक

कमरा नं. 56, सूचना भवन

सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड,

नई दिल्ली-110003

फोन नं. 011-24367453

ई-मेल : pdjucir@gmail.com

helpdesk1.dpd@gmail.com

टाइपसेट : एजुकेशनल स्टोर्स, लेजर

टाइप सेटिंग

हमारे विक्रय केंद्र : नई दिल्ली : सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड, दूरभाष : 011-24367260, लखनऊ : हाल नं. 1, दूसरी मंजिल, केंद्रीय भवन, अलीगंज, दूरभाष : 0522-2225455, कोलकाता : 8, एम्प्लेड ईस्ट, दूरभाष : 33-22488030, पटना : बिहार रा. सह. बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, दूरभाष : 0612-2683407, मुम्बई : 701 बी-विंग, सातवीं मंजिल, केंद्रीय सदन, बेलापुर, नवी मुम्बई, दूरभाष : 9522-27570686, बंगलुरु : एफ विंग, केंद्रीय सदन, कोरानंगला दूरभाष : 080-25537244, अहमदाबाद : अखंडानंद हॉल, द्वारा पत्र सूचना कार्यालय, द्वितीय तल, सोएनआई चर्च के पास, मंदर टेरेस रोड, पद, दूरभाष : 079-26588669, हैदराबाद : कमरा नं. 204, दिवनीय तल, सी.जी.ओ. टॉवर, कावादि गुडा-500080, चेन्नई : राजाजी भवन, वेसेंट नगर, दूरभाष : 044-24917673, तिरुअनंतपुरम : गवर्मेन्ट प्रेस के निकट, दूरभाष : 041-2330650



स्तरीय सामग्री

'आजकल' का जनवरी-फरवरी, 2020 विशेषांक मिला। स्तरीय सामग्री से भरा है। एक से एक साहित्य के विगत 70-75 वर्ष 'आजकल' का स्तुत्य प्रयास एक वृहत् आयोजन है।

साहित्यिक तमाम पत्रिकाओं 'वागर्थ' को छोड़कर 'कथादेश', 'नया ज्ञानोदय', 'कादम्बिनी' एवं 'हंस' में ऐसी पकड़, गंभीरता एवं पहल नहीं है। हाँ, 'वागर्थ' का जनवरी-फरवरी संयुक्त अंक 2020 भी विशिष्ट सामग्रियों से भरा पड़ा है।

-रामेश्वर प्रसाद सिंह, पटना

अभूतपूर्व संयोजन

'आजकल' का अमृत जयंती विशेषांक न केवल पठनीय है बल्कि संग्रहणीय भी है। जिस तरह से इस विशेषांक को संयोजित किया गया है वह अभूतपूर्व है। इसके लिए संपादकीय टीम को ढेर सारी बधाई!

-रमेश अनुपम, रायपुर (छत्तीसगढ़)

फेसबुक से...

महत्वपूर्ण और सीखने लायक

'समयांतर' पत्रिका के संपादक, कथाकार, समालोचक और 'आजकल' पत्रिका के पूर्व संपादक पंकज बिष्ट का साक्षात्कार अमृत जयंती विशेषांक में प्रकाशित हुआ है। यह साक्षात्कार सुमित चौधरी और मैंने पिछले पंकज बिष्टजी के आवास पर लिया था। पंकज बिष्ट जिस बेबाकी से साहित्यिक, राजनैतिक और सामाजिक मुद्दों पर अपनी बात रखते हैं वह बहुत ही महत्वपूर्ण और सीखने लायक है। 'आजकल' पत्रिका का यह अंक बहुत ही खास है। इस खास अंक का हिस्सा होकर अच्छा लग रहा है।

-गौरव भारती

लिखना भी जीने की एक वजह

'कविता स्वातंत्र्योत्तर' आद्योपांत बेहतरीन समायोजन। ऐसे संपादक बहुत कम होते हैं जो

दुख अवसाद और संकट से गुजरते हुए लेखक को रचनात्मक परियोजनाओं से बाँधे रखें। इस कला में राजेंद्र राव के बाद राकेशरेणु ने भी मुझसे समय-समय पर लिखवाया और दुख के गलियारे से गुजरते हुए मुझको राहत प्रदान की। ऐसे ही वक्त जब अस्पतालों में घनघोर आवाजाही थी, यह लेख क्रतरा-क्रतरा समय बचा कर लिखा गया।

-ओम निश्चल

सराहनीय अंक

'आजकल' पत्रिका हिन्दी की ऐसी महत्वपूर्ण पत्रिका है जो गत 75 वर्षों से लगातार निकल रही है और उसका विशेषांक आया है। इसके पहले संपादक कुंवर किशोर सेठ थे। क्रांतिकारी मन्मथ नाथ गुप्त, चंद्रगुप्त विद्यालंकार और देवेंद्र सत्याधी भी इसके संपादक थे। वर्तमान संपादक राकेशरेणु एवं फरहत परवीन को बधाई जिनकी मेहनत से सुंदर अंक आया। 1945 में इसका पहला अंक निकला था। रघुवीर सहाय की पहली कविता 'आजकल' में छपी थी। राहुल, दिनकर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, नागार्जुन, त्रिलोचन, रंगेश राघव भी इसमें छपते थे। नये अंक में 75 लेखकों की रचनाएँ, कविताएँ, लेख, टिप्पणियाँ हैं जिनमें मैनेजर पाण्डेय, गंगा प्रसाद विमल, गोपेश्वर सिंह, मदन कश्यप, रोहिणी अग्रवाल, ज्योतिष जोशी, देवेंद्र चौबे, बजरंग बिहारी तिवारी के लेख, विश्वनाथ त्रिपाठी, निर्मला जैन, ममता कालिया, पंकज बिष्ट के साक्षात्कार भी सराहनीय हैं 37 कवियों की कविताएँ- सौमित्र मोहन, मंगलेश डबराल, गिरिधर राठी, इब्बार रब्बी, विष्णु नागर, विनोद भारद्वाज, कुमार अम्बुज, सविता सिंह, अनामिका, कात्यायनी से लेकर देवयानी भारद्वाज, बाबुषा कोहली, लवली गोस्वामी, लीना मल्होत्रा, रश्मि भारद्वाज, और यशस्विनी पाण्डेय तक शामिल हैं यानी कविता की चार पीढ़ियाँ हैं। मनोज मोहन और कुमार मंगलम द्वारा आयोजित दो परिचर्चाएँ भी हैं। नाटक और सिनेमा तथा संगीत पर लेख भी सराहनीय है।

-विमल कुमार

साहित्यिक जानकारी

"किताब के पाठक कम, उपभोक्ता अधिक हैं।"

-उदयन वाजपेयी

"लेखक का काम लिखना है, मूल्यांकन करना नहीं।"

-निर्मला जैन

"सोचती हूँ, पाठक क्या लेखक से चीत्कार के बदले चीत्कार की ही माँग करता है?"

-रोहिणी अग्रवाल

"नई तकनीक आती है तो पुरानी प्रौरन गतकालिक हो जाती है। इसे विकास कहा जाता है।"

-विश्वनाथ त्रिपाठी

जितनी तेजी से सामाजिक नैरेटिव बदला है उतनी ही तेज गति से लेखन का नैरेटिव भी बदला है। नेटफ्लिप जनरेशन का आगाज हो रहा है, पुरातन नेपथ्य में जा रहा है। थ्री प्वाइंट जीरो का ट्रिगर दबाते ही नई सृष्टि का अवतरण होने लगेगा।

हम अपने जीवन के कमोबेश सभी टूल्स तेजी से बदलते जा रहे हैं लेकिन एक चीज है जो हमारे अंदर जड़ जमाए है, वह एक वस्तु क्या है? यह हम सबको सोचना है।

सभी परिवर्तनों व उठापटक के बीच 'आजकल' पत्रिका पिछले 75 साल से निर्बाध गति से पाठक के मध्य ढंग की मेटेरियल प्रेषित करने में सक्षम है और निरंतरता बनाए हुए है।

इस अंक में आलोचना को लेकर चिंता और चिंतन दोनों ही शामिल हैं। साक्षात्कार के माध्यम से साहित्य की टूटती तारतम्यता और बदलते एंगल को लेकर गहन वार्तालाप की प्रस्तुति अतिमोहक है।

छोटी-मोटी त्रुटियाँ भी हैं लेकिन सब सुंदर में काला टीका जरूरी है। यह कमियाँ वही काला टीका सरीखी हैं। कुछ लेख पूर्वाग्रह से ग्रसित हैं। कुछ भेदभाव पूर्ण हैं। कुछ हड़बड़ी का शिकार हैं।

-सुनीता

कविताएँ अच्छी लगीं

वर्ष 1945 से निरंतर प्रकाशित हो रही हिन्दी पत्रिका 'आजकल' का हाल में अमृत जयंती विशेषांक प्रकाशित हुआ है। इसमें हिन्दी के वरिष्ठ और युवा रचनाकारों की रचनाओं को बराबर से तरजीह दी गई है। सैंतीस कवियों की कविताएँ अंक को शानदार बनाती हैं। सौमित्र मोहन जैसे वरिष्ठ कवि हैं तो अदनान कफ़ील दरवेश जैसे युवा भी हैं। कुमार मंगलम ने आज़ादी के बाद की प्रमुख कृतियों पर एक परिचर्चा की है। आज़ादी के बाद के गद्य साहित्य पर भी एक परिचर्चा है। साथ ही आज़ादी के बाद विविध विधाओं में लिखे जा रहे साहित्य पर विशिष्ट साहित्यकारों द्वारा सर्वेक्षणात्मक आलेख लिखवाए गए हैं, जिनमें मैनेजर पाण्डेय, गंगा प्रसाद विमल के आलेख बेहद महत्वपूर्ण हैं।

-मनोज मोहन

प्रसंगवश

फणीश्वरनाथ रेणु के लेखन में लोक की, उनके जीवन और संस्कृति की तरह-तरह की रंग-बिरंगी छवियाँ हैं। वह मानवीय संवेदनाओं के अतुल्य चित्रकार हैं लेकिन वे केवल मनोजगत के कथाकार नहीं, बल्कि बाह्य जगत की घटनाओं के, त्रासदियों और खुशियों के लेखक हैं जो मनुष्य के बाहरी-भीतरी दोनों भावलोकों को प्रभावित करती हैं। इस लोक जीवन का एक सांस्कृतिक पक्ष है तो दूसरा और भी महत्वपूर्ण पक्ष सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक है।

इस लिहाज से देखें तो रेणुजी का सारा का सारा जीवन और लेखन अन्याय, असमानता, अत्याचार और तानाशाही के विरोध का, लोकतंत्र, आजादी और अधिकारों की बहाली का लेखन है। विद्यार्थी जीवन से ही वे जितने कुशाग्र थे उतने ही विद्रोही प्रकृति के भी थे। इसी की वजह से उन्हें अररिया के अपने प्राथमिक विद्यालय में बेंत की सजा खानी पड़ी और स्कूल-निकाला झेलना पड़ा। आगे चलकर वे 1941 के किसान आंदोलन में शामिल हुए। गाँव-गाँव घूमकर संघर्ष की चेतना जगाते रहे। वे 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन में शामिल हुए और महीनेभर के भीतर सितंबर 1942 में गिरफ्तार कर लिए गए। नेपाली क्रांति में एक योद्धा के रूप में उनकी भूमिका और आपातकाल के दौरान उनकी सक्रियता से हम सब अवगत हैं ही, राज्यसभा टीवी के लिए राजेश बादल द्वारा बनाई गई फिल्म में भी उसका जिक्र किया गया है। उनकी सामाजिक और राजनैतिक सक्रियता के लिहाज से देखें तो रेणुजी का व्यक्तित्व गणेश शंकर विद्यार्थी, माखनलाल चतुर्वेदी, राहुल सांकृत्यायन और रामवृक्ष बेनीपुरी सरीखा है। दूसरी ओर अपने कृतित्व में वे प्रेमचंद की परंपरा की अगली कड़ी हैं।

लोकतंत्र के लिए तानाशाही के खिलाफ हर लड़ाई में वह सबसे आगे खड़े होते। नेपाल में राज्यसत्ता की निरंकुशता के खिलाफ लड़ाई में वह बी.पी. कोइराला के साथ थे। भूमिगत रहकर वे पीठ पर रेडियो ट्रांसमीटर लादे मुक्ति-योद्धाओं के साथ कदमताल करते रहते। भारत में तानाशाही के खिलाफ लड़ाई में वे जयप्रकाश नारायण के साथ थे। सभाओं में, जुलूसों में सबसे आगे किसानों के साथ सत्याग्रह करते हुए आजाद देश में बिहार आंदोलन के समय जेल गए, जहाँ से वे बीमारी के कारण ही छूटे। आपातस्थिति ढीली होने पर चुनाव अभियान में शामिल हो गए। चुनाव में तानाशाही ताकतों की हार और लोकतंत्रीय शक्तियों की भारी विजय का सुख उन्होंने देखा लेकिन उसके बाद ज्यादा समय तक वे जीवित न रह सके। अगर रेणु 1977 के चुनाव के बाद कुछ समय तक जीवित रहते तो जरूर ही वे साहित्य में वह तस्वीर बनाते जिससे आगे आने वाली पीढ़ियों को पता चलता कि इस देश के करोड़ों निरक्षर, गरीब ग्रामवासियों ने तानाशाही की यातना किस रूप में झेली थी और कैसे उससे लड़ाई की। वह लेखन आने वाली पीढ़ियों का प्रेरणा-पुंज भी बनता।

हमारे सामाजिक और राजनीतिक जीवन में, हमारे आस-पास घट रही छोटी-बड़ी घटनाओं को आधार बनाकर एक किस्म की सर्जनात्मक रिपोर्टिंग का शिल्प उन्होंने विकसित किया जिसे आगे चलकर रिपोर्ताज कहा गया। हम देखते हैं कि उनका पहला रिपोर्ताज 'बिदापत नाच' शीर्षक से कलकत्ते से निकलने वाले हिन्दी साप्ताहिक पत्र 'विश्वामित्र' के पहली अगस्त, 1941 के अंक में प्रकाशित हुआ। तब संपादक ने इसे 'रिपोर्ताज' नहीं कहा "रपट" भी नहीं कहा, 'लेख' कहा। इसे प्रकाशित करते हुए संपादक ने प्रारंभ में अपनी एक छोटी-सी टिप्पणी लिखी है, जो इस प्रकार है- "मैथिल-कोकिल कवि-सम्राट विद्यापति के सरस गीतों को दरभंगा, भागलपुर और पूर्णिया जिले की निम्न श्रेणी की ग्रामीण जनता किस प्रकार भाव-नाट्य का रूप देकर सजीव बनाती और मनोरंजन करती है, इसका बड़ा ही सुंदर वर्णन इस लेख में किया गया है। आर्ट, तकनीक और ड्रामा से अनाभिन्न जनता उन गीतों को कितना उच्च कलात्मक रूप दे सकती है, पाठक इस लेख को पढ़कर स्वयं समझ सकते हैं।" दरअसल 'बिदापत नाच' के कलाकारों को विद्यापति के गीत जुबानी याद थे और वे उनमें समय काल और परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तन कर उनमें हास्य और व्यंग्य का रोचक और भावपूर्ण पुट जोड़ते जाते थे। जिन लोगों ने 'बिदापत नाच' पढ़ा है, रेणुजी के लिखे रिपोर्ताज पढ़े हैं, वे जानते हैं कि यह रपट मात्र था भी नहीं, पर लेख भी नहीं था जैसाकि 'विश्वामित्र' के संपादक ने कहा था। इसका रचना-विन्यास इन दोनों से सर्वथा अलग था जो पत्रकारी लेखन को साहित्यिक उत्कर्ष देता है। पत्रकारिता को साहित्यिक और सर्जनात्मक उत्कर्ष देने वाले इसी तरह के लेखन के लिए हाल के वर्षों में, 2015 में, बेलारूसी पत्रकार और लेखिका स्वेतलाना अलेक्सीविच को साहित्य के नोबल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। यह पुरस्कार उन्हें 'वॉर्स अनवूमनली फेंस' नाम की कृति के लिए दिया गया जो द्वितीय विश्व युद्ध में शामिल और उससे पीड़ित स्त्रियों से बातचीत और उनके अनुभवों पर आधारित है।

रेणु को गाँव से और वहाँ के जीवन से गहरा लगाव था। वे चाहते थे कि तमाम असंगतियों-विसंगतियों, रंग-द्वेष, गुरीबी, जहालत के बावजूद इस लोक-जीवन का विघटन न हो, गाँव के लोगों का शहर की ओर पलायन न हो किंतु धीरे-धीरे यह विघटन और पलायन बढ़ता ही गया। रेणु की छठे दशक की कहानियों में भी ऐसी जीवन-स्थितियाँ आती हैं पर 1964 ई. में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के दो टुकड़े हो जाते हैं। फिर उनका आपसी विवाद शुरू होता है। ऐसे में गनपत जैसा पार्टी का साधारण कार्यकर्ता किस तरह आहत होता है और उसकी दुर्दशा कैसी होती है- रेणु ने इसकी मार्मिक अभिव्यक्ति 'आत्मसाक्षी' नामक कहानी में की है। इस कहानी का जर्मन भाषा में अनुवाद लोठार लुत्से ने किया था और जर्मनी के लोगों ने इस कहानी को जर्मनी के दो भागों में बँटवारे से आम जनता पर पड़ने वाले प्रभाव के रूप में ग्रहण किया था। एक अँचल विशेष पर लिखी गई कहानी का वैश्विक संवेदना के धरातल पर स्वीकार किया जाना चौंकाने वाली चीज है। लुत्से ने इस कहानी के बारे में अपनी टिप्पणी में कहा है कि- "ठीक है, यह 'तीसरी कसम' जितनी लोकप्रिय नहीं है, उसकी काव्यात्मकता, उसकी संगीतात्मकता शायद कम हो, फिर भी 'आत्मसाक्षी' मुझे बहुत पसंद है और जर्मन अनुवाद मैंने इसी कहानी का प्रकाशित करवाया। शायद यह बात अच्छी लगी हो कि लेखक एक मामूली आदमी के पक्ष में हैं जिसे ईमानदारी और भोलापन की वजह से सजा मिलती है। मेरे विचार में यही रेणु की सबसे बड़ी विशेषता है।"

रेणु के जीवन और लेखन का लक्ष्य था समतामूलक और संस्कृति चेतस समाज तैयार करना। उनका सपना साकार करने के लिए हमें हर तरह के भेदभाव मिटाकर समरस और समभाव युक्त समाज बनाना होगा। उनका समग्र लेखन और जीवन हमें इसका रास्ता दिखाता है लेकिन जन्म शताब्दी वर्ष की पूर्व संध्या पर और आने वाले वर्ष के दौरान भी सबसे बड़ा सवाल यह बना रहेगा कि क्या हम इसके लिए तैयार हैं?

आज़ादी का स्वप्न और 'मैला आँचल' का यथार्थ

प्रेमकुमार मणि

‘मैला आँचल’ सुप्रसिद्ध कथाकार फणीश्वरनाथ रेणु का ऐसा उपन्यास है, जिसके प्रकाशन के साथ ही साहित्य की दुनिया में एक खलबली-सी मच गई थी। औपनिवेशिक गुलामी से भारत की आज़ादी के एक दशक के भीतर 1954 में इसका प्रकाशन हुआ था और उस वक़्त ख्यात आलोचक नलिन विलोचन शर्मा ने टिप्पणी की थी- “हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में, यदि गत्यावरोध था, तो इस कृति ('मैला आँचल') से वह हट गया है।” उन्होंने इसे प्रेमचंद के 'गोदान' के बाद हिन्दी का वैसा दूसरा उपन्यास माना। इसे लेकर वर्षों तक पत्र-पत्रिकाओं में टिप्पणियाँ-प्रतिक्रियाएँ-समीक्षाएँ छपती रहीं। यह कहा जा सकता है कि इसके प्रकाशन ने रेणु को हिन्दी के प्रथम कोटि के लेखकों के बीच ला खड़ा किया।

‘मैला आँचल’ को लेकर आज तक अनेक स्तरों पर विमर्श जारी है। हिन्दी का नया से नया लेखक तक इससे किसी-न-किसी रूप में प्रभावित है। जिस आँचलिकता को लेकर ‘मैला आँचल’ की भाषा और कथा गढ़ी गई है, उससे पूरी तरह असंपृक्त निर्मल वर्मा जैसे लेखक भी रेणु और ‘मैला आँचल’ से अपना सम्मोहन स्वीकारते हैं। अज्ञेय और रेणु अपने परिवेश के स्तर पर परस्पर भिन्न हैं लेकिन मिज़ाज के स्तर पर एक हैं। व्यक्तिगत स्तर पर भी दोनों का अपनापा यूँ ही नहीं था। यशपाल हों या जैनेन्द्र सबने ‘मैला आँचल’ के महत्व को स्वीकार किया था। रामविलास शर्मा जैसे कतिपय मार्क्सवादी आलोचकों की भूकुटि जरूर तनी थी, लेकिन उनकी टिप्पणियाँ ही यह बताती थीं कि इसके प्रभाव से वह चिंतित थे। कुल मिलाकर यह कि एक श्रेष्ठ उपन्यास के रूप में ‘मैला आँचल’ का महत्व इसके प्रकाशन के साथ ही स्थापित हो गया था। समय के साथ यह गहराता ही गया है।

लेकिन यहीं मैं हिन्दी-साहित्य की इस बात के लिए आलोचना करना चाहूँगा कि इतने महत्वपूर्ण उपन्यास को आँचलिक बता कर उसे मुख्यधारा से अलग-थलग करने की भरसक कोशिश की गई। कुछ इसी प्रकार आज दलित साहित्य को एक अलग प्रकोष्ठ में डाला जा रहा है। ‘मैला आँचल’ को जिस तरह आँचलिक उपन्यास कह कर अलगाया गया, वह कालांतर में इसकी सीमा बन गई। इसकी कथावस्तु पर विमर्श को स्थगित कर इसके शिल्प पर चर्चा को पूरी तरह केंद्रित कर दिया गया। इससे हिन्दी साहित्य का जो नुकसान हुआ उसका आकलन होना अभी शेष है लेकिन यह प्रसन्नता की बात है कि ‘मैला आँचल’ की मूल चिंता पर विमर्श अब आरंभ हो चुका है।

1921 में जन्मे रेणु ने भारतीय स्वतंत्रता के संघर्ष में एक राजनैतिक कार्यकर्ता के रूप में हिस्सा लिया था और जेल भी गए थे। वह अपनी युवावस्था में ही थे कि भारत औपनिवेशिक गुलामी से 1947 में मुक्त हो गया। 1950 में ‘मैला आँचल’ का लेखन आरंभ हुआ और 1954 में इसका प्रकाशन हो सका। ‘मैला आँचल’ की कथा आज़ादी के तुरंत बाद शुरू हो जाती है और थोड़े-से डग-मग के साथ भारतीय गणतंत्र की घोषणा के पहले ही ख़त्म हो जाती है। कुल मिलाकर मूल कथा में ढाई से तीन वर्ष का काल समेटा गया है।

यह काल आज़ादी की भावना से ओत-प्रोत है। ब्रिटिश हुकूमत चली गई है। मलेरिया जैसी जानलेवा बीमारी का पूर्णिया जिले में आतंक है। उस जिले के एक पिछड़े और उदास गाँव मेरीगंज में डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के कुछ कर्मचारी ज़मीन की पैमाइश करने आए हैं, जहाँ सरकार ने अस्पताल बनाने की योजना मंजूर की है। इनकी दस्तक के साथ ही उपन्यास का आरंभ होता है लेकिन 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन के वक़्त ही ब्रिटिश सरकार ने उसे कुचलने के लिए पूरे इलाक़े में जो आतंक मचाया था, वह लोगों के अवचेतन का हिस्सा हो गया है। यही कारण है ‘गाँव में यह ख़बर तुरंत बिजली की तरह फैल गई- मलेटरी ने बहरा चेतारू को गिरफ्त कर लिया है और लोबिनलाल के कुँए से बाल्टी खोल कर ले गए हैं।’ ('मैला आँचल' की आरंभिक पंक्तिवर्ष) सरकारी लोगों का आना मलेटरी का आना होता है और उनके आने भर से गाँव में जो दहशत फैल गई है, वह अपने-आप बहुत कुछ कह जाती है। वह सामाजिक डर जिसे यूरोपीय समाजवेत्ताओं ने ओरिएंटल यानी पूरब



के लोगों की कूपमंडूकता कहा है, और जिसे ओरिएंटल डिस्पोजिटिव (पूरबी निरंकुशता) का आधार भी, रेणु के इस उपन्यास में अनायास छलक कर आ जाता है। गाँव के सब से पावरफुल व्यक्ति तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद खबर मिलते ही खुद-ब-खुद 'एक सेर घी, पाँच सेर बासमती चावल और एक खूस्सी' लेकर डरते हुए वहाँ पहुँच जाते हैं। यादवटोली के लोग सुराजी (स्वतंत्रता सेनानी) बालदेव को कमर में रस्सी बाँध कर हो-हल्ला करते हुए ले आए हैं। उच्चजाति के निरक्षर ठाकुर रामकिरणपालसिंह सलाम ठोंकने में पीछे नहीं रहना चाहते। अपने उद्गार में अपनी संपूर्ण मूर्खता और अपने इतिहास बोध को वह रख देते हैं- "जय हो सरकार की! हुजूर पबली को भलाय के वास्ते इतना दूर से कष्ट उठा कर आया है, और हम लोग हुजूर, का कोई सेवा नहीं कर सके। गुसाई जी रमैन में कहिन हैं- धन्य भाग प्रभु दरसन दीन्हा... हुजूर सेवक का नाम रामकिरणपालसिंह वल्द गरीबनवाजसिंह, मुक्ता, जात राजपूत, मोकाम गढ़बुंदेल राजपूताना, हाल मोकाम मेरीगंज।" ('मैला आँचल', रेणु रचनावली, 2/35)

मेरीगंज की यह मनोभूमि भारत के तकरीबन छह लाख गाँवों का प्रतिनिधित्व करती है। गाँधी ने जब कहा था कि भारत गाँवों का देश है, तब वह भारतीय स्वतंत्रता की मुश्किलों को भी समझ रहे थे। गुलामी केवल औपनिवेशिक नहीं थी। पूरा समाज गतिहीन, सहमा-डरा और तंगनजरी का शिकार था। ऐसे भारत की आजादी कई स्तरों पर अपेक्षित थी। इसे गाँधी ने भी समझा था और अपने साहित्य द्वारा रेणु भी समझाना चाहते थे। ब्रिटिश हुकूमत से मुक्ति को समाजवादियों ने कभी पूरी आजादी नहीं माना था। रेणु उनमें एक थे। एक बार अपने एक सहयोगी और शिष्यमित्र जयशंकर के यह पूछने पर कि आपके 'मैला आँचल' में इतने अधिक चरित्र हैं, लेकिन आप कहीं नजर नहीं आते, रेणु ने कहा था- "इसमें मेरा चरित्र भी एक जगह आया है। जब आजादी का जुलूस निकाला जाता है, तो वे भी एक नारा लगाते हैं- यह आजादी झूठी है।" इस पर मेरीगंज के लोग बिगड़ जाते हैं। बालदेवजी कहते हैं- "अरे भाई, हिंगना-औराही का सोसालिटी है, तो हिंगना-औराही में जाकर अपने गाँव का नारा लगाए। यहाँ काबलियत छौटने का क्या जरूरत था? अपना मुँह है-बस लगा दिया नारा- यह आजादी झूठी है।" (रेणु रचनावली, 2/13)

रेणु ने अपने उपन्यास में खुद को इस तरह चस्प्या किया है। एक सोशलिस्ट कार्यकर्ता के रूप में। नारा लगाते हुए। और नारा कैसा-भीड़ के नारों से अलग। भारतमाता और गाँधी की जय जैसे नारे नहीं। एक तीखा प्रतिवाद। यह आजादी झूठी है। यह है रेणु का आजादी विषयक नजरिया। औपनिवेशिक गुलामी की आजादी से वह संतुष्ट नहीं हैं, वह तो झूठी है, मिथ्या है। 'मैला आँचल' पर काम करने वाले अधिकांश लोगों ने रेणु के इस नजरिए की उपेक्षा कर दी। वह वहाँ लोक-राग और आँचलिक छटा देखते रह गए।

15 अगस्त 1947 को विदेशी गुलामी से देश आजाद हुआ था- यह भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की जीत थी- उस भारतीय राष्ट्रवाद का उत्कर्ष, जिसे हमारे राजनेताओं और दार्शनिकों ने बहुत मुश्किल से स्थापित किया था लेकिन जिस क्षण राष्ट्र आजाद हुआ था उसी क्षण टूटा भी था, खंडित भी हुआ था। इसलिए यह हमारे राष्ट्रवाद के पतन का भी क्षण था- हमारे राष्ट्रीय आंदोलन की विफलता का क्षण। भारतीय समाज के शासक तबके-जिसका निर्माण ऊँची जाति के लोगों और जमींदारों द्वारा हुआ था- ने हमारी पीढ़ी को झूठी आजादी ही नहीं दिलवाई झूठा इतिहास भी पढ़वाया। रेणु का 'मैला आँचल' हमें वास्तविक इतिहास से रू-ब-रू कराने की कोशिश करता है। आधुनिक भारतीय इतिहास पर विमर्श करते हुए हमें अब अपने तथाकथित स्वाधीनता आंदोलन की सीमाओं और कमजोरियों को भी देखना चाहिए। यह

तथाकथित स्वाधीनता आंदोलन, स्वाधीनता कम, राष्ट्रीय आंदोलन अधिक था। दुनियाभर में राष्ट्रीय आंदोलनों का अपना इतिहास रहा है। इन राष्ट्रीय आंदोलनों का मुख्यतया बुर्जुआ तबके द्वारा ही पालन-पोषण और विकास किया गया और इन सबमें मनुष्य की आजादी का भाव पीछे ही जाता रहा। राष्ट्रीय मुक्ति व्यक्तिगत रूप में मनुष्य की आजादी की प्रायः उपेक्षा कर देती है। मनुष्य की स्वाधीनता की भावना तो वस्तुतः फ्रांस की क्रांति जैसी घटनाओं से प्रस्फुटित हुई, जिसका नारा था- समानता, भाईचारा और आजादी। मतलब यह हुआ कि आजादी के पहले समानता और भाईचारा है। समानता, बंधुता और स्वतंत्रता एक त्रयी के रूप में ही आते हैं। हमारे राष्ट्रीय आंदोलन ने जिस आजादी का प्रस्ताव किया उसमें समानता और बंधुता के भाव किन्हीं कारणों से गौण हो गए। और संभवतः यही कारण था कि समाजवादियों ने आजादी के पर्व पर काली पट्टी लगाई और 'यह आजादी झूठी है' का नारा लगाया। रेणु इन्हीं में से एक थे।

आप यदि 'मैला आँचल' के कथा फलक को पूरा हिंदुस्तान मान लें, तो आपको पता चलेगा कि भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में किन लोगों ने आजादी का स्वप्न पाला था, कैसा स्वप्न पाला था और क्यों पाला था। 'मैला आँचल' में वर्णित स्वतंत्रता के सिपाहियों को देखते जाएँ। बावनदास हैं- जिनमें आप गाँधी की छाया देख सकते हैं- उनके जाति- गोत्र का कोई पता नहीं है। 'पूर्वजन्म का फल अथवा सिरजनहार की मर्जी। प्रकृति की भूल अथवा थाइराइड, थायपस और पिट्यूटरी के हेर-फेर! डेढ़ हाथ की ऊँचाई! साँवला रंग, मोटे होंठ, अचरज में डाल देने वाली दाढ़ी और चौंका देने वाली मोटी-भोंडी आवाज़। ऊँचाई के हिसाब से आवाज़ दस गुना भारी। अजीब चाल, मानो लुढ़क रहा हो। अज्ञात कुलशील। जन्मजात साधू...' ('मैला आँचल', रेणु रचनावली, 2/137) चुन्नी गोसाई और बालदेव भी हाशिये के लोग हैं। समाज के पिछड़े तबकों से आने वाले। बालदेव अपने गाँव चन्ननपट्टी से उखड़ कर मेरीगंज में एक रिश्ते के घर में रहता है। मेरीगंज गाँव में जिसकी कोई खास पूछ नहीं है। चुन्नी गोसाई भी फटेहाल पृष्ठभूमि का है। स्वतंत्रता के सिपाही सवर्ण बस्तियों से निकलते नहीं दिखते। बालदेव, चुन्नी, बावनदास सब शूद्र और अज्ञातकुलशील हैं। ऊँची जातियों के नेता पूर्णिया शहर में जरूर जमे हुए हैं।

'मैला आँचल' का केंद्रीय गाँव मेरीगंज स्वयं जाति टोलों में बँटा हुआ है। रेणु के शब्दों में, "यहाँ बारहों बरन के लोग रहते हैं।" उनके ही शब्दों में, "गाँव में तीन प्रमुख दल हैं" कायस्थ, राजपूत और यादव। ब्राह्मण लोग अभी भी तृतीय शक्ति हैं। गाँव के अन्य जाति के लोग भी सुविधानुसार इन्हीं तीनों दलों में बँटे हुए हैं। "राजपूतों और कायस्थों में पुरतैनी मनमुटाव और झगड़े होते आए हैं। कायस्थ टोली को गाँव की अन्य जाति के लोग मालिक टोला कहते हैं। राजपूत टोली के लोग कहते हैं-कैथ-टोली।" ('मैला आँचल')

यह है वास्तविक रूप में गाँव। जातियों के स्तरीकरण और उसकी सामाजिक बुनावट को जिस सूक्ष्मता से रेणु ने पकड़ने की कोशिश की है, वह किसी समाजशास्त्री को भी आश्चर्यचकित कर सकती है। बिहार के प्रमुख समाजशास्त्री और 'अपरंपरा' पत्रिका (जिसमें रेणु की प्रसिद्ध कहानी 'तीसरी कसम' अर्थात् 'मारे गए गुलफ़ाम' पहली दफ़ा छपी थी, के संपादक नर्मदेश्वर प्रसाद ने 'मैला आँचल' के इस समाजशास्त्रीय अध्ययन के स्वरूप को लेखक को लिखे एक पत्र में रेखांकित किया था। दुर्भाग्य है कि किसी साहित्यालोचक ने इस उपन्यास के इस स्वरूप को गंभीरता से नहीं देखा। कार्ल मार्क्स ने भारतीय गाँवों पर टिप्पणी करते हुए इन्हें पूरब के समाज की निरंकुशता का आधार बताया है। मार्क्स ने लिखा है कि ये काव्यमयी बस्तियाँ जात-पात और वर्णव्यवस्था की पोषक रही हैं। इन गाँवों की सरल उत्पादन प्रणाली ने

एक जटिल सामाजिक-प्रणाली को जन्म दिया है और इन्हें खत्म किए बिना भारत का निर्माण संभव नहीं है। मार्क्स को भारतीय समाज के अध्ययन के लिए यदि 'मैला आँचल' जैसी कोई कृति मिली होती, तो वे अपने अध्ययन में अधिक स्पष्ट होते और जिस तरह यूरोपीय समाज को समझने के लिए उन्होंने बाल्जाक के लेखन का आधार स्वीकार किया है, वैसे ही रेणु का करते। रेणु ने भारतीय गाँवों से उठने वाले उन जनतांत्रिक धड़कनों को भी सुना-समझा जो समाजवादी आंदोलनों के आधार बनीं। कालीचरण जैसे समाजवादी कार्यकर्ता यँ ही नहीं मेरीगंज की धरती पर उग आते हैं। कबीर मठ, लछमि कोठारिन, जोतखी जी, तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद सब अपनी जगह कुछ कहते हैं। कायस्थ विश्वनाथ प्रसाद क्यों पिछड़ी जाति वालों की तरफ मुखातिब हैं? और सिपहिया टोले के लोग मालिक टोले को कैथ-टोला कह कर कुछ नीचे क्यों दिखाना चाहते हैं? यादव टोला, कायस्थ टोला और राजपूत टोला आपस में एक दूसरे को नीचा देखते हैं और एक दूसरे का बुरा भी चाहते हैं; लेकिन जैसे ही संधालों से मुकाबला होता है, सब इकट्ठे हो जाते हैं। इसका कारण क्या है? रेणु इस तरह के अनेक सवाल खड़े करते हैं, जिनके जवाब सामान्य तौर से आज भी हमारे पास नहीं हैं।

हमें यह भी देखना चाहिए कि 'मैला आँचल' में कौन लोग हैं जो आजादी का स्वप्न पाल रहे हैं। इसे हम दो परिवर्तों में बाँट सकते हैं। बावनदास, बालदेव और चुन्नी गोसाईं भारत की उस राजनैतिक आजादी का स्वप्न पालते हैं, जिसकी प्रस्तावना भारत के पढ़े-लिखे और आर्थिक स्तर पर संपन्न शासक तबके ने की थी और जिसके नेता गाँधी, नेहरू, सुभाष जैसे लोग थे लेकिन दूसरे परिवर्त पर लछमि कोठारिन, कालीचरण और कमली जैसे लोग हैं जो एक नये किस्म की आजादी के लिए जद्दोजहद कर रहे हैं। इनकी आजादी राजनैतिक आजादी से भिन्न है। बावनदास भी 15 अगस्त की आजादी से संतुष्ट नहीं हैं। चुन्नी गोसाईं सोशलिस्ट पार्टी में चला गया है और संघर्ष से थका बालदेव लछमि के सान्निध्य में कुछ वैसी ही सुखानुभूति तलाशना चाहता है, जैसा एडविना के सान्निध्य में नेहरू चाहते थे लेकिन बावनदास बेचैन आत्मा है। वह थके-पड़ा बालदेव को बतलाना चाहता है- "लेकिन भारथमाता अब भी रो रही है बालदेव! ('मैला आँचल', रेणु रचनावली, 2/136) बालदेव को बात समझ में नहीं आती। आजादी मिल जाने के बाद भारथमाता क्यों रो रही है भला! बालदेव के लिए आजादी की लड़ाई खत्म हो चुकी है। सुराज मिल गया है। अपनी सरकार बन गई है। अब काहे को संघर्ष! लेकिन बावनदास के लिए स्थितियाँ अधिक जटिल हो गई हैं। उनके आदर्श गाँधीजी मारे जा चुके हैं और जिस आजादी के लिए उन्होंने अपने जीवन को लगा दिया वह एक बार फिर ख़तरे में दिख रही है। उनकी चिंता बहुत अधिक है। यही कारण है कि बावनदास उपन्यास के ख़त्म होते-होते एकदम सूख कर काँटा हो गए हैं और अंततः अपने आजाद भारत में कालाबाजारी रोकने की कोशिश करते हुए गाँधी के श्राद्ध के दिन ही बैलगाड़ियों द्वारा कुचल दिए जाते हैं। आजाद भारत में यह एक काँग्रेस कार्यकर्ता की दूसरे काँग्रेस कार्यकर्ता से टक्कर है। आजाद भारत में एक काँग्रेसी कालाबाजारी कर रहा है और दूसरा उसे रोक रहा है। आजादी की एक नई लड़ाई शुरू हो चुकी है। बावनदास का संवाद इतिहास की कई परतों को एक साथ तोड़ता है- "आइए सामने पास कराइए गाड़ी। आप भी काँग्रेस के मेंबर हैं और हम भी। खाता खुला हुआ है; अपना-अपना हिसाब-किताब लिखिए... आज के इस पवित्र दिन को हम कलंक नहीं लगाने देंगे।" ('मैला आँचल', रेणु रचनावली, 2/294)

बावनदास किस आजादी का स्वप्न पाल रहा है? वह बालदेव और चुन्नी गोसाईं से किस तरह भिन्न है और क्या बावनदास के साथ लछमि कोठारिन और कालीचरण का कोई संवर्ग बनता है? ये सवाल आज भी

हमारे सामने हैं। निश्चय ही राजनैतिक आजादी से अलग के स्वप्न के साथ हैं ये लोग। लछमि कोठारिन पूरी दुनिया की उत्पीड़ित महिलाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं और जिस चेतना के साथ कालीचरण नागा साधु को खदेड़ता है वह अलग फलक है। कालीचरण किन परिस्थितियों में हिंसा के निकट पहुँचता है। और कौन है वह चलितर कर्मकार! आखिर ये सब के सब आजादी का ही तो स्वप्न पालते हैं!

और ये स्वप्न 'मैला आँचल' तक ही समाप्त नहीं हो जाते। रेणु के परवर्ती लेखन में भी हम इसी स्वप्न की तलाश देखते हैं। वह चाहे उनका दूसरा बड़ा उपन्यास 'परती परिकथा' हो या फिर छोटा उपन्यास 'जुलूस', अपनी कहानियों में भी वे इन्हीं सवालों से जुझते हैं। एक राजनैतिक कार्यकर्ता के रूप में काम कर चुके रेणु को राजनैतिक मिथ्याचारों की जितनी बारीक जानकारी थी, वैसी कम ही लेखकों की होती है। 'मैला आँचल' का कालीचरण परेशान है। सोशलिस्ट पार्टी के कार्यकर्ता कालीचरण से उसकी ही पार्टी के सेक्रेटरी मिलना नहीं चाहते। लेकिन वह मिलेगा। पुलिस उसकी तलाश में है। पार्टी के लोग ही उसके खिलाफ लगे हैं। क्या रेणु की एक कहानी 'आत्मसाक्षी' में इसी कालीचरण का पुनर्जन्म हुआ है, गनपत के रूप में? गनपत और कालीचरण की पीड़ा इतनी मिलती-जुलती है! गनपत अपनी ही पार्टी की गुलामी से मुक्ति चाहता है। इस कहानी का अनुवाद जर्मन विद्वान लोठार लुटसे ने जर्मन जुबान में किया था और 1972 में जब लुटसे रेणु से मिले थे, तब पूछा था- "रेणुजी, मैंने आपको बताया कि आपकी इस कहानी का मैंने जर्मन में अनुवाद किया है, जो चार और कहानियों के साथ एक संग्रह में छपेगी। संग्रह का नाम मैंने रखा है 'आजादी की मुश्किलें'। आपकी एक कहानी का एक अंश मैंने अपने सवाल का आधार इसलिए बनाया कि मुझे लगता है, आपका चरित्रनायक गनपत मानो एकाएक आजादी की मुश्किलें- बल्कि कह लीजिए आजादी की मुसीबतें पहचान लेता है- बिजली की कौंध की तरह। क्या आप मेरी बात से सहमत होंगे?" और रेणु ने कहा था- "हाँ, मैं आपसे सहमत हूँ।" (रेणु रचनावली, 4/435)

रेणु और लुटसे आजादी की जिन मुश्किलों से परिचित थे, वे मुश्किलें आज कहीं ज्यादा भयावह रूप में हमारे सामने हैं, लेकिन हम उन पर विमर्श से बचना चाहते हैं। हम अभिन्दन की संस्कृति से अलग नहीं होना चाहते। हमारे सपनों में आज कोई कालीचरण, कोई गनपत, कोई बावनदास नहीं है। हम गुलामी के आनंद में जीने वाले लोग हैं। आजादी के स्वप्न देखना हमारी कुव्वत में क्यों कर होने जावे!

आजादी के सवालों के साथ एक बार फिर हम 'मैला आँचल' पर लौटना चाहेंगे। जैसाकि मैंने पहले कहा कि रेणु सीमित अर्थों में आजादी के सवाल को नहीं लेते। अपने एक साक्षात्कार में उन्होंने 1940 के पूर्व की एक घटना का जिक्र किया है, जब कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के नेता और रेणु के आदर्श जयप्रकाश नारायण ने उत्तर बिहार के सोनपुर में समाजवादी कार्यकर्ताओं का एक अध्ययन शिविर आयोजित किया था। इसको नाम दिया गया था -समर स्कूल ऑफ पॉलिटिक्स। इस में 'मैला आँचल' में चलितर कर्मकार के रूप में वर्णित नछतर माली भी शामिल हुए थे। अपने प्रथम परिचय में जेपी से जब उन्होंने अपना नाम लिया, तब, जेपी ने मीठी डाँट सुनाई- यह क्या नाम हुआ नछतर माली? नहीं, आज से आप नक्षत्र मालाकार कहे जायेंगे। रेणु ने उत्साह के साथ इस घटना का जिक्र किया है। हालाँकि उस शिविर में वह शामिल नहीं हो सके थे। यह नहीं पता कि कहीं उसी संस्कृतिकरण के प्रभाव में तो वह भी फणीश्वरनाथ मंडल से फणीश्वरनाथ रेणु नहीं हो गए? जो हो रेणु के दिमाग पर इस घटना का असर पड़ा। यह असर उनके लेखन में भी परिलक्षित है। आजादी के अवयवों को रेणु अपने अंदाज़ में संस्कारित करते हैं। 'मैला आँचल' नायक प्रधान उपन्यास नहीं

है, लेकिन डॉ. प्रशांत निःसंदेह इसका नायक है। यह हिन्दी उपन्यासों के नायकों में अज्ञेय के शेखर ('शेखर : एक जीवनी') के बाद सब से अधिक चर्चित नायक है। अज्ञेय का शेखर यदि नास्तिक है, तो रेणु का प्रशांत निर्जात, अर्थात् जातिरहित। वह रवींद्रनाथ टैगोर के 'गोरा' की तरह अज्ञातकुलशील तो है, लेकिन उसकी तरह इससे अनजान नहीं है। उसे अपनी सामाजिक स्थिति की जानकारी है। इसलिए उसकी समस्याएँ कहीं विकट हैं। 'बचपन से ही वह अपने जन्म की कहानी सुन रहा है। घर की नौकरानी, बाग का माली और पड़ोस का हलवाई भी उसके जन्म की कहानी जानता था। लोग बरबस उसकी ओर उँगली उठा कर कुछ कहने लगते थे।.. "एक लावारिस लाश को भी लोग ऐसी ही दृष्टि से देखते हैं।" रेणु की टिप्पणी है। ('मैला आँचल', रेणु रचनावली, 2/61)

आखिर रेणु प्रशांत जैसे पात्र को कथानायक क्यों बनाते हैं? क्या यह अकारण है? शायद नहीं। रेणु समझ-बूझकर ऐसा चरित नायक खड़ा करते हैं। समाज के जिन अवयवों को वह विमर्श के केंद्र में लाना चाहते हैं, जिस आजादी के वह पैरोकार थे, प्रस्तावक थे, वह प्रशांत जैसे नायक द्वारा ही आगे किया जा सकता था। जिनकी जड़ें जाति और गोत्र में गहरे स्वारथ में धँसी हैं, वे मुकम्मल आजादी का स्वप्न भला कैसे देख सकते हैं! प्रशांत, बावनदास, बालदेव, लछमि कोठारिन, कालीचरण, चरितर कर्मकार सब के सब निर्जात, निम्नवर्गीय अथवा अज्ञातकुलशील हैं। सब अपनी जड़ों से उखड़े हुए लोग हैं, जिनकी वर्णवादी समाज में कोई पहचान नहीं है। ये इस व्यवस्था के निराद्रित-अपमानित लोग हैं। वे सब जातिवादी समाज-व्यवस्था से मौन-विद्रोह करते हैं। ये सब के सब एक नई मनुष्यता के लिए संघर्ष कर रहे हैं। उन समाजवादी मूल्यों के लिए, जिन्हें रेणु ने अपने राजनैतिक सरोकारों द्वारा आत्मसात किया था। रेणु का साहित्य किसी अन्य प्रागतिशील लेखक से अधिक सचेत और राजनैतिक है। उनके साहित्य के इन पहलुओं की प्रायः अनदेखी हुई है।

आजादी के आसंग रेणु गाँधीवाद पर भी पूरा भरोसा नहीं करते। उनके उपन्यासों के वैचारिक आवेग गाँधी के व्यक्तित्व के प्रति पूरी श्रद्धा रखते हुए भी गाँधीवाद के रामराजी अवयवों से विद्रोह करते हैं। उन पर गाँधी की अपेक्षा कबीर का अधिक प्रभाव है, हालांकि उसके पाखंडों और सीमाओं से भी वह परिचित हैं। मेरीगंज में वर्णित कबीर मठ अकारण नहीं है। वह उनकी सोच का आधार भी है। पुरोहिती पाखंडों का विरोध करने में वह आगे होना चाहते हैं। मेरीगंज में भले बारहो बरन के लोग हों, उसका नायक जातिहीन प्रशांत ही होगा, यह रेणु की जिद है। ऐसा नहीं है कि रेणु अपने नायक को बलात थोपते हैं। वह जानते हैं कि प्रशांत को पसंद करने वाली परिस्थितियाँ वहाँ मौजूद हैं। उन्हें बस उभारना है। यही कारण है कि प्रशांत और कमली के प्रेम संबंधों पर जोतखी जी जैसे गिने-चुने अपवादों को छोड़ कर पूरे गाँव का मौन समर्थन है यह है गाँव का यथार्थ। वह जात-पात से विद्रोह करने के लिए तैयार है। कार्ल मार्क्स ने जिस तरह के कूपमंडूक भारतीय गाँवों का अनुमान उन्नीसवीं सदी के मध्य में किया था, वैसे गाँव नहीं हैं। उनकी कूपमंडूकता एक ही धक्के से खत्म हो सकती है। उसके लिए संपूर्ण उत्पादन प्रक्रिया के बदले जाने तक इंतजार करना आवश्यक नहीं है। इटालियन मार्क्सवादी चिंतक अंटोनिओ ग्राम्शी जिस सांस्कृतिक वर्चस्व की बात करते थे, वह 'मैला आँचल' लिखे जाने तक प्रकाशित नहीं हुआ था, लेकिन रेणु लगभग वैसी ही दृष्टि रखते हैं। सम्यक परिवर्तन के लिए वर्चस्ववादी संस्कृति को निर्मूल करना आवश्यक है, इसकी समझ रेणु को है।

उत्तर-भारतीय राजनीति में सन उन्नीस सौ अस्सी के दशक में जो जाति-विमर्श हुआ, उसका अहसास रेणु को 'मैला आँचल' लिखते वक्त

ही था। 1954 तक समाजवादी पार्टी ने भी जाति-विषयक कोई नीति नहीं प्रतिपादित की थी। राममनोहर लोहिया की जाति-नीति बहुत बाद की चीज है। लोहिया की तरह अपनी सोच में वह एकांगी भी नहीं है। उनका जाति-विमर्श जाति को वर्ग के रूप में लेने की भी नहीं है। निम्न जातियों के हाथ में सत्ता सौंपने जैसी बात में भी उनका यकीन नहीं है। वह तो बस इस जातिवाद को जड़मूल से खत्म करने के आकांक्षी हैं, क्योंकि इसने व्यापक स्तर पर मनुष्यता को धोखे में रखा हुआ है। यह एक बड़ी हिंसा है, जो तिल-तिल कर, कदम-कदम पर मेहनतकश लोगों को अपमानित और हतोत्साहित करती रहती है। ये मेहनतकश ही हैं, जो जाति व्यवस्था की पूरी बोझ उठाए हुए हैं। प्रेमचंद के बाद रेणु दूसरे बड़े हिन्दी लेखक थे जिन्होंने पुरोहिती पाखंडों को किसी भी स्तर पर स्वीकार नहीं किया। उसकी सगुण आलोचना की।

रेणु हमें अपनी लेखनी से चौंकाते क्यों हैं? वह अद्भुत और सबसे अलग-अजूबे क्यों लगते हैं? कहा तो यह जाता है कि उन्होंने भारतीय गाँवों के यथार्थ की जीवंत शाब्दिक फोटोग्राफी की है। जो है उसे रख दिया है, एक रिपोर्टर की तरह लेकिन यह रिपोर्टिंग कुछ लोगों को इतनी भयावह क्यों लगती है? कुछ लोगों का यह भी मानना है कि रेणु गाँवों को बहुत पसंद करते हैं। या, वह कुल मिला कर ग्रामवादी हैं। लेकिन क्या यह सच है? मेरे अनुसार नहीं .. मैं नहीं जानता रेणु कार्ल मार्क्स के भारतीय गाँवों से संबंधित विचारों से परिचित थे या नहीं। या फिर कार्ल गुन्नर मिर्डल (1898-1987) ने अपने अर्थशास्त्रीय आख्यान 'एशियन ड्रामा' में जिस तरह एशियाई समाज को समझा है, उसकी बारीकियों को जानते थे, या नहीं, लेकिन रेणु गाँवों की अनवरत अवस्थिति के आकांक्षी हैं, यह बात निर्मूल है। वह गाँवों के विकास जैसी किसी अवधारणा से भी सहमत नहीं हैं। वह विकास की जगह परिवर्तन के आकांक्षी हैं। वे गाँवों को बदल देना चाहते हैं। ग्रामवादी अवयवों से नहीं, बल्कि उन अवयवों से जिनसे नगर निर्मित हैं। गाँव उन्हें इतना प्यारा होता, तो प्रशांत-कमली के बेटे को 'उनकी' ममता पटना ले जाने की सलाह क्यों देती?

अपने लेख का समापन करते हुए मैं एक बार अनुरोध करना चाहूँगा कि आजादी की बहुआयामी सोच के संदर्भ में 'मैला आँचल' और रेणु-साहित्य को देखा जाना चाहिए। हिन्दी साहित्य के छायावादी जमाने से ही मनुष्य की मुक्ति के जो स्वर मुखरित होने के आकांक्षी थे, उसे रेणु रेखांकित करते हैं। प्रेमचंद, जैनेंद्र और अज्ञेय के यहाँ आजादी का उत्स अपने तरीके से आकार लेता है। रेणु इन सब को आगे बढ़ाते हैं। उनकी सोच की सांस्कृतिक जड़ें गहरे रूप से बंगला साहित्य में भी धँसी थीं। यही कारण है कि रवींद्रनाथ टैगोर और शरतचंद्र के साहित्यिक सरोकारों और संस्कारों से रेणु का साहित्य भी हम निमज्जित पाते हैं। इस जुड़ाव से बंगला नवजागरण का उत्स, जो आजादी के नये अर्थों में मुखरित होता है रेणु-साहित्य में संसरित होता है। यह कहना मुश्किल प्रतीत होता है कि रेणु पर बंगला के साहित्यिक संस्कार प्रभावी हैं या हिन्दी के। 'मैला आँचल' के नायक प्रशांत पर टैगोर भी उतना ही हावी है जितना अज्ञेय या जैनेंद्र। और ममता तो स्वयं रेणु के शब्दों में ही "शरत बाबू" के उपन्यासों की यह नारी अपने विश्वास पर अडिग होकर आज भी आगे बढ़ रही है; रूप बदल दो, नाम बदल दो, समय दो, जगह बदल दो, पर यह कभी बदल नहीं सकती।" ('मैला आँचल', रेणु रचनावली, 2/308) रेणु ने बंगला नवजागरण की चेतना और समाजवादी राजनैतिक आदर्शों को अपने साहित्य में इस तरह समाहित किया है कि वह स्वतः मनुष्य की मुकम्मल आजादी का घोषणापत्र बन जाता है। उनकी आजादी न जड़ है और न ठस। वह बहुआयामी है। ज्ञानात्मक भी है और संवेदनात्मक भी। आने वाले समय में इन सबकी सूक्ष्म व्याख्या होनी है। रेणु के पुनर्मूल्यांकन का समय आ चुका है। □

वैद वेदना

ध्रुव शुक्ल

क थाकार कृष्ण बलदेव वैद के शब्द 'मेरी देह पर उड़ती हुई खाक की तरह झरते हैं और यह खाक देह पर ठहरती नहीं, पल-पल उसी में विलीन होती जाती है। आँखों की कोरों पर भाषा के काजल की तरह कुछ देर ठिठकती जरूर है जैसे किसी वाक्य की रेखा हो और जो बह जाना चाहती हो।'

उन्हें पढ़ते हुए आँसुओं के छलकने के पहले ही पीने का अनुभव करता हूँ और अपनी देह के वीराने को उन्हीं से सींचने लगता हूँ। वैद के शब्द मेरे अंतरतम में कँटीले वृत्तों पर खिलने लगते हैं जिनका रस लेने के लिए शूलों का सामना किए बिना गुजारा नहीं। ये शब्द दिल नहीं दुखाते, बस यही जताते हैं कि दुख है और इन शब्दों के करीब आकर जो कथा सुख मिलता है वह आगे-आगे नहीं चलने लगता, विडंबना में घुलकर अगले ही वाक्य में ओझल हो जाता है।

मन-बुद्धि और अहंकार के प्रतिपल परिवर्तित चक्रव्यूह के बीच रूप-रस-गंध-स्पर्श और शब्द से लिपटी देह, चेतना के सामने निहत्थी पर छाया किए हुए है- वैद के पीछा करते हैं। वे अपनी भाषा छायालोकों में आत्म-अवलोकनी अपना सामना करते हैं।

उनकी कृतियों का गहरा होने लगता है कि भाषा चल रहा है जहाँ शब्द किसी रहे, वे तो प्रतिपल रूप में, रस अपने-आप में समाते चले जा लेते ही अगले वाक्य की देह लगते हैं जैसे अपने से खुद

वैद के उपन्यास और खेतियों की तरह लगते हैं जहाँ चेतना के हल की नौक से जाती हैं और जिनमें वे शब्दों और अनथक उसी की फ़सल



जान पड़ती है और वही चेतना शब्द इसी छायालोक का निरंतर का रथ जोतकर देह में बसे की तरह विचरते हैं और खुद

सामना करते हुए यह अहसास के अरण्य में अपने-आपसे द्वंद्व दूसरे शब्द से हार-जीत नहीं में, गंध में, स्पर्श में और खुद रहे हैं। वे एक वाक्य में जन्म में खो जाने को इस तरह बेचैन अपना संहार कर रहे हों।

कहानियाँ शब्दों की उन भाषा की पड़ती ज़मीन पर वाक्यों की रेखाएँ खिँचती चली के द्वंद्व-बीज बोते चले जाते हैं काटते हैं।

उनकी अकथ कथा समझते ही बनती है, बखानी नहीं जाती। वे हमारे समय में अपने-आपको देखने की निष्ठुर और अद्वितीय कथा कला के प्रवर्तक हैं। वे अपनी भाषा के मायालोक के बारे में हमसे कहते हैं कि मैं उसे देखना चाहता हूँ, पढ़ना नहीं। अगर उसे पढ़ने का दुराग्रह किया तो देख भी नहीं पाऊँगा। वैद के शब्द समझने की ज़रा भी कोशिश नहीं करते और न कोई ढाढ़स बँधाते हैं, वे सिर्फ़ दिखाते हैं जो समझने के लिए जरूरी है। कृष्ण बलदेव वैद की कागद की लेखी आँखें देखी यात्रा पर इसी तरह लिए चलती हैं।

उन्हें पहली बार तब देखा जब वे अमरीका से लौटकर भोपाल आए और निराला सृजनपीठ के अध्यक्ष पद पर आसीन हुए। उनके साथ चंपा वैद की उपस्थिति ने हमें आत्मीयता के एक और उजाले से भर दिया। हम ही नहीं हमारे बच्चे भी उनके दोस्त बन गए। वैद के भोपाल आने से हम भारतीय भाषाओं के युवा लेखकों की बिरादरी में शामिल होने लगे। अशोक वाजपेयी शुरू से ही संगीत, नृत्य और चित्रकला में युवाओं की बिरादरी



का विस्तार करते आ रहे थे। वैद के आ जाने से पूरे देश में लेखकों की युवा बिरादरी निराला सृजनपीठ के माध्यम से बढ़ने लगी। हर साल वैद के नेतृत्व में एक अंतरभारती लेखक शिविर भोपाल और उसके आसपास के प्राचीन दर्शनीय स्थानों पर होने लगा। हम अनुवाद के माध्यम से दूसरी भारतीय भाषाओं के रचनात्मक अंतरंग से जुड़ने लगे।

वैद हमेशा एक दूरी से ही अंतरंग होना पसंद करते हैं। खुद अपनी अंतरंगता से दूरी उनके कथा-लेखन और चिंतन की शैली ही रही है। वे अपने लिखे हुए को भी अपने से दूर बनाए रखते हैं। वे पास रहकर भी दूर जाते और दूर से आते दिखाई देते रहते हैं। इस दूरी में ही उनके सबके करीब आने की कला भी छिपी हुई है। लिखते हुए भी उनके लिखने में न लिखने का भाव झलकता है। जैसे वे हर शब्द को हर दूसरे शब्द से काटते हुए लिख रहे हों। उनके लिखे हुए में हमेशा एक अनलिखे को पढ़ता रहा है। कागज की सतह पर उनके शब्द अनलिखे की गहराई को पानी के फूलों की तरह ढाँपे रहते हैं तो इसलिए कि अनलिखे की गहराई भाप बनकर कहीं उथली न होने लगे।

वे किसी और के अनुभवगम्य पर भरोसा करने वाले लेखक नहीं हैं। उनका लिखना पूरी तरह इन्द्रियगम्य है जिसके सहारे वे अपने अनुभवगम्य तक पहुँचना चाहते हैं। वे अपने लिखने में कितनी भी दूर जाते हुए किसी दर्शन से मदद लेते हुए नहीं लगते, उनका दृष्टिपथ उनके लिखने में अपने-आपको देखते हुए बनता चला जाता है। मैं कौन हूँ, कृष्ण बलदेव वैद यह प्रश्न कभी अपने लिखने के बीच पूछते हुए नहीं मिले। मैं क्या हूँ, इस प्रश्न का पीछा करते हुए ही मैंने उन्हें पाया है। वे एक जगह बैठे हुए नहीं, इस तरह दौड़ते हुए लगते हैं जैसे अपना ही पीछा कर रहे हों।

वैद को देह के आयतन के बाहर जाना मंजूर नहीं। शायद उन्हें यह भी मंजूर नहीं कि वे अपने लेखन में किसी सम्यक् दृष्टि का प्रतिपादन करें। वे मेरे अनुभव में एक वेदना-मग्न रचयिता की तरह ही आते हैं। वे जीवन में लिखने का मार्ग इस तरह खोजते हैं कि किसी को किसी से रास्ता न पूछना पड़े। वैद के रचे क्रिस्से-कहानियों में भाषा जीवन के रजस और तमस के बीच ही झूलती है, उसमें किसी सत्व की अभिलाषा नहीं। उनके लिखने में कोई आईना प्रकट नहीं होता पर लगता है कि चेहरा दिख रहा है।

एक दिन प्रोफेसर्स कॉलोनी में वैदजी के बाँगले के पीछे रहने वाली पड़ोसन ने चंपाजी से पूछ ही लिया कि आपके पति क्या करते हैं? चंपाजी ने सहज ही बता दिया कि लेखक हैं, कहानी-उपन्यास लिखते हैं। यह सुनकर पड़ोसन बोली, अरे लिखते क्यों हैं, बाज़ार से लिखे-लिखाए क्यों नहीं खरीद लेते। यह बात सुनकर हँसी तो जरूर आयी पर मन भारी हो गया- लेखक जीवन के पीछे कितना भी दौड़ता रहे, उसके साथ चलने को क्या कोई तैयार नहीं?

इसके बावजूद भी रचना कहाँ रुकती है, तन की माटी, आँच और नमी पाकर हूक उठती है! उठती हुई हूक को कौन रोक सकता है। एक शाम हमें अचानक पता चला कि चंपाजी ने कविताएँ लिखी हैं। पिता-प्रकृति और पूर्वजों के साथ बीता बचपन चंपाजी ने अपनी कविताओं में सहज ही रच दिया। इन कविताओं में किशोरी चंपा के मन में खिलते जाते फूलों की स्मृतियाँ भी झलक उठीं। फिर उनकी कविता की बेल फैलती चली गई और उनकी नयी-नयी कविताएँ हमारे लिए किसी आनंद-फल से कम न थीं।

निर्मल वर्मा और कृष्ण बलदेव वैद ज्यादा दिनों निराला सृजनपीठ में रहे और सक्रिय रूप से अपने समय के युवा सर्जकों की परवाह

और परवरिश करते रहे। उनके सान्निध्य में हमारा यह अनुभव गहराता रहा कि प्रकृति ने हमें कुछ रचने के निमित्त से भी चुन लिया है और यह जिम्मेदारी हमने स्वीकार कर ली है। फिर हम अपनी जीवनचर्या को कलाचर्या से दूर नहीं रख पाए। मन ही मन लगता रहता कि जैसे छोटे-से जीवन में भी कुछ ज्यादा जी लेने का इंतजाम हो गया है। हम किसी घनी छाया में आकर बसेरा कर रहे हैं। घनी छाया कहीं से उठाकर नहीं लाई जा सकती पर अशोक वाजपेयी तो उसे उठा लाए।

वैद और निर्मलजी दिल्ली लौट जाने के बाद भी कभी हमसे दूर नहीं लगे। हम जो कुछ भी लिखते, सबसे पहले उन्हें ही भेजते और वे उसे ध्यान से पढ़कर अपनी राय देते। हमारे पास उनके पत्रों का आना कभी कम नहीं हुआ। वे मामूली ख़त नहीं थे, वे जैसे ही हम तक आते उन्हें खोलते ही हमें उनमें रास्ता दिखता। वे हमारे आत्मीय प्रशंसक ही नहीं, निष्ठुर आलोचक भी रहे। मेरी कहानियों की पांडुलिपि पढ़ने के बाद एक शाम पता नहीं क्या सोचकर मुझे निर्मलजी ने सलाह दी कि तुम्हारे मन में जो भारतीय गाँव और कस्बों के जीवन का आस्वाद रचा-बसा है उसे आधुनिकता की झोंक में कभी खो मत देना, अपने लिखने में सँभाले रहना। आधुनिकता के फेर में इसे कई लेखकों ने भुला दिया। इससे साहित्य में रूखापन समा गया और इसे जितना हो सके, भरना भी तो जरूरी है।

एक बार मुझ पर ग़ज़ल की लहर में बह जाने की धुन सवार हुई। कुछ लिखीं और तुरंत वैदजी को भेज दीं। उनका ख़त मिला- “मैंने शायद ही किसी भी हिन्दी शायर की कोई अच्छी ग़ज़ल अभी तक पढ़ी हो। ग़ज़ल की ग़ज़लियत उर्दू और फ़ारसी की नगमयी (संगीत) में हो जो उर्दू और फ़ारसी की इजाज़तों से भी फूटती है, शब्दों और संस्कारों से भी। मुझे इस कोशिश में कोई ख़ास तुक नज़र नहीं आती। मशक और रियाज़ और ज़िद के जोर पर तुम अगर चंद अच्छे शेर लिख भी लोगे तो बात बनेगी। कुछ क्रिस्में भाव विशेष के बग़ैर अपना कमाल दिखा ही नहीं पातीं। जापानी का हायकू हिन्दी में नहीं लिखा जा सकता, अँग्रेज़ी का सॉनेट हिन्दी में नहीं (त्रिलोचन मुझे मुआफ़ करें) और ग़ज़ल हिन्दी में नहीं। जो लोग लिख रहे हैं उनसे भी मैं मुआफ़ी माँग लेता हूँ। मैंने अपनी राय अपने (ख़ास) रूखे तरीक़े से दे डाली है, इस भरोसे से कि तुम इसे अन्यथा नहीं लोगे, क्योंकि तुम जानते हो कि मैं तुम्हारे लेखन का प्रशंसक हूँ।”

... और फिर मैंने ग़ज़ल लिखना छोड़ ही दिया। मशक और रियाज़ से कुछ शेर कभी-कभी कह लेता हूँ। □

आवश्यक सूचना

चंदा भेजने और चंदे के बारे में पूछताछ के लिए अथवा पत्रिका प्राप्त न होने की स्थिति में कृपया वितरण एवं विज्ञापन व्यवस्थापक से सीधे संपर्क करें।

पता : वितरण एवं विज्ञापन व्यवस्थापक
प्रकाशन विभाग, कमरा नं. 56, सूचना भवन, सी.जी.ओ.

कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003

फोन नं. : 011-24367453

ई-मेल : pdjucir@gmail.com

गिरिराज किशोर की रचना-यात्रा

राकेश शुक्ल

मुजफ्फर नगर के हरिशंकर लाल सामंती सभ्यता के जमींदार थे। उनका परिवार कभी अंग्रेजों का भक्त हुआ करता था। उन्हीं के सुपौत्र थे गिरिराज किशोर, जिनका जन्म 8 जुलाई, 1937 को हुआ था। पिता सूरज प्रकाश अंग्रेजी, फ़ारसी तथा उर्दू के अच्छे विद्वान थे, पर पितामह के छोटे भाई हिन्दी प्रेमी थे, जिनसे गिरिराजजी को हिन्दी पढ़ने और उस भाषा में लिखने की प्रेरणा प्राप्त हुई। माँ का साथ तो डेढ़ वर्ष की आयु में ही छिन गया था। लेखन के बीज बचपन में ही अंकुरित होने लगे थे, जिसमें उत्प्रेरक का कार्य उनके परिवार के सामंती परिवेश ने ही किया। गिरिराज किशोर के अनुसार, “उनके बाबा तथा पिता सामंती प्रवृत्ति के थे। उनसे मेरी टकराहट हो सकती थी। यदि मेरे अंदर रचना कर्म नहीं जगता, तो शायद मैं आत्महत्या कर लेता, या पागल हो जाता।”

समाज विज्ञान से परास्नातक की डिग्री प्राप्त करने के बाद स्वाभिमानी गिरिराजजी ने आजीविका के लिए अनेक नौकरियों कीं और छोड़ीं। सबसे पहले एक फ़ैक्ट्री में लेबर ऑफ़िसर हुए। बाद में इलाहाबाद में एम्प्लायमेंट ऑफ़िसर के रूप में कार्य किया। पश्चात् वहीं प्रोबेशन अधिकारी के रूप में नियुक्त हुए। इलाहाबाद के साहित्यिक वातावरण ने उनकी रचनात्मकता में चार चाँद लगा दिए और वहाँ उनकी बहुमुखी प्रतिभा तथा सृजनशीलता में निखार आने लगा था। एक लेख में उन्होंने लिखा था, “यह महत्त्वपूर्ण बात है कि उस घर (गिरिराजजी के घर) में लगभग सभी साहित्यकार आए थे, अगर प्रधानमंत्री नेहरू आए होते, तो शायद मेरे लिए इतने गर्व की बात न हुई होती, जितना कि साहित्यकारों के आने पर। इलाचंद्र जोशी का एक जन्मदिन हमने उस घर में मनाया था। उसमें महादेवीजी, पंतजी, नरेश मेहता, साही, अशक, श्रीपत राय, अमृत राय, सुधाजी, गिरिजा कुमार माथुर और हमारी पीढ़ी के लगभग सभी साहित्यकार आए थे।”

बेहतर आजीविका के लिए उन्हें इलाहाबाद छोड़कर कानपुर आना पड़ा। जहाँ वे कानपुर विश्वविद्यालय के सहायक कुलसचिव, उप-कुलसचिव के पदों पर रहे; और कालांतर में आई.आई.टी. के रजिस्ट्रार पद पर आसीन हुए। वहाँ की अव्यवस्थाओं पर जब उन्होंने ‘यथा प्रस्तावित’ तथा ‘परिशिष्ट’ जैसे उपन्यास लिखे तो निदेशक से टकराव की स्थिति बनी, फलतः उनका निलंबन और फिर लंबे संघर्ष के बाद रचनात्मक लेखन केंद्र के अध्यक्ष के रूप में बहाली हुई। वहाँ से सेवानिवृत्त होने के बाद कानपुर में रहते हुए आजीवन सृजनरत रहे।

गिरिराज किशोर हिन्दी के उन विरल साहित्य सर्जकों में थे जिनका लेखन बहुविध और प्रभूत है। अपनी पचास वर्ष से अधिक रचना-यात्रा में उन्होंने पचास से अधिक उत्कृष्ट एवं मौलिक कृतियों की रचना की थी। डेढ़ दर्जन उपन्यास, एक दर्जन कहानी-संग्रह, सात नाटक, आठ आलोचना की कृतियाँ, चार बाल साहित्य की पुस्तकें तथा एक एकांकी नाटक सहित अन्य सभी रचनाएँ अपनी रचनात्मकता से तद्युगीन सामाजिक परिदृश्य में सर्जनात्मक हस्तक्षेप करती हैं।

जिन दिनों गिरिराज किशोर ने कथा-साहित्य में पदार्पण किया था, उन दिनों सन् 1960 ई. के आसपास नई कहानी का दौर था जिसमें उसकी कलात्मकता पर विशेष बल दिया जा रहा था; और उसमें आख्यान तत्व की उपेक्षा की जा रही थी, तब गिरिराज किशोर ने न सिर्फ़ विशुद्ध उपन्यास और कहानियाँ लिखीं; बल्कि उन्होंने उनमें आख्यान तत्व को भी बचाए रखा इसका कारण यह है कि उन्हें अपने कथा-साहित्य की अंतर्वस्तु जिस समाज से मिली; उसके प्रति उन्होंने अपने दायित्व को स्वीकार किया। आपके कथा-साहित्य में आज्ञादी के बाद से अद्यावधि समाज के सभी आयामों का निदर्शन है। एक तरह सामंतों, जमींदारों के स्थान पर नव धनाढ्य पूँजीपतियों की शोषण मूलक व्यवस्था तो दूसरी तरफ़ भूख, गरीबी, बेरोजगारी, शोषण, दमन, उत्पीड़न



आदि की समस्याएँ, सताए हुए निम्न मध्यवर्गीय मेहनतकश स्त्री-पुरुषों का यथार्थ है। बदलते जीवन मूल्यों के संदर्भ में उन्होंने उच्च, मध्य वर्ग की अनेक पारिवारिक समस्याओं सहित उन वर्गों की मनोरचना को भी हमारे सामने रखा है।

गिरिराजजी के उपन्यास साहित्य को यदि हम रचनाक्रम के अनुसार देखें तो उनमें अपने समय, समाज और परिवेश की भी यात्रा है। आपके पहले उपन्यास 'लोग' में देश की आजादी से थोड़े पहले का परिदृश्य है। इसमें अंग्रेजीपरस्त सामंतों की मानसिकता का यथार्थ अंकन हुआ है। अंग्रेजों ने अपने शासन को स्थिर बनाने के लिए भारत के ऐसे प्रभावशाली वर्गों को उच्च पदों पर सम्मानित किया एवं प्रलोभनों से लालायित किया था, कि वे हमेशा दुम हिलाते रहें और स्वाधीनता के लिए संघर्षरत लोगों का मनोबल तोड़ने में कामयाब हों। स्वतंत्रतापूर्ण सामंतों की मानसिकता तथा उनकी ढहती स्थितियों को रेखांकित करने में लेखक को जो कामयाबी मिली है वह निःसंदेह प्रशंसनीय है।

'चिड़ियाघर' उपन्यास एम्प्लायमेंट ऑफिस के माध्यम से दफ्तरों में फैली बुराइयों, एक-दूसरे को नीचा दिखाने वाली वृत्तियों, शिक्षित एवं कामकाजी महिलाओं के मनोविज्ञान तथा रोजगार दिलाने के नाम पर होने वाली लूट-खसोट आदि का यथार्थ वर्णन है। बेकारी, रिश्वतखोरी, बेईमानी, स्त्री-उत्पीड़न, भाई-भतीजावाद आदि अनेक समस्याओं को हल करने की दृष्टि से लेखक ने इसका सृजन किया है।

'यात्राएँ' नवविवाहित दंपति के जीवन पर आधारित एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास है। इसमें बाहरी स्थितियों की अपेक्षा नवविवाहित दंपति की मानसिक स्थितियों का सूक्ष्म एवं अमूर्त अंकन हुआ है। इसमें सांकेतिक भाषा के अनेक प्रयोग मिलते हैं।

'जुगलबंदी' में गिरिराजजी ने पुनः अंग्रेजपरस्त सामंती जीवन को चित्रित किया है। इसमें अंग्रेजी शासन, भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन, सामंतों के छुपे अनैतिक संबंधों, नई पीढ़ी की अवसरवादिता, स्वाधीनता सेनानियों के जेल-जीवन की यातनाओं, भारत छोड़ो आंदोलन सहित देश की तद्युगीन सामाजिक, राजनैतिक जीवन का यथार्थ दस्तावेज है।

'दो' नारी मुक्ति पर आधारित एक ऐसा उपन्यास है जिसमें पुरुष सत्ता प्रधान सामाजिक व्यवस्था में अपने अस्तित्व रक्षा के लिए संघर्षशील नारी का अंकन है। इसमें एक असंतुष्ट नारी एवं उसके दो पतियों का मनोवैज्ञानिक अंकन हुआ है। उपन्यास पढ़ते हुए कोई भी पाठक गहन मानसिक यंत्रणा से गुजर सकता है। यह उपन्यास हमारे संवेदन शून्य आचरण पर करारी चोट भी करता है।

फंतासी शैली में अभिनव रचना विभाग की दृष्टि से 'इंद्रसुनें' गिरिराजजी का बहुचर्चित और बहुप्रशंसित उपन्यास है। कृषकों की समस्याओं पर केंद्रित विशेषतः परंपरागत अवधारणाओं पर वैज्ञानिक प्रगति के संक्रमण को लेकर इसकी रचना की गई है। इसकी रचना-प्रक्रिया को लेकर स्वयं गिरिराजजी ने एक साक्षात्कार में कहा था, "इंद्रसुनें" की प्रेरणा मुझे एक वैज्ञानिक संस्थान की स्थापना के दौरान किसानों को उनकी जमीन से बेदखल करने और उनको संस्थान के जरूरत के अनुरूप ढालने की प्रक्रिया से मिली और मुझे लगा कि यह भी एक तरह का विस्तारवाद है।" आज हम देखते हैं कि यह समस्या कितनी विकराल रूप धारण कर चुकी है; जिसे गिरिराजजी ने सन् 1978 में महसूस कर लिया था।

'दावेदार' उनकी फंतासी शैली में लिखी गई सर्वथा अलग और अद्भुत रचना है। जीवन के यथार्थ बोध पर आधारित इस उपन्यास में

मानव मुक्ति की समस्या, स्वतंत्र भारत की अनेक बुराइयों का उद्घाटन, नारी के प्रति हमारे दृष्टिकोण में बदलाव आदि प्रमुख विषय हैं। उपन्यास के माध्यम से लेखक ने मानवीय मूल्य एवं आदर्श आचरणों के पतन की पड़ताल भी की है। एक स्वस्थ एवं आदर्श समाज की स्थापना की दृष्टि से यह उदात्त कोटि की रचना है।

'अंतर्ध्वंस' की मूल कथा विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में युवा वैज्ञानिकों के पलायन और उनकी मानवीय संवेदना एवं पारिवारिक मूल्यों के क्षरण से संबंधित है। युवा वैज्ञानिक दीपक पचौरी के माध्यम से आज के यांत्रिक जीवन की कठिनाइयों सहित अनेक राष्ट्रीय समस्याओं के आलोक में इसकी निर्मिति की गई है।

'ढाईघर' उपन्यास पर गिरिराजजी को साहित्य अकादमी सम्मान प्राप्त हुआ था। यह उपन्यास सामंती व्यवस्था पर उनका तीसरा उपन्यास है। स्वाधीनता के थोड़ा पहले से स्वाधीनता के कुछ वर्षों बाद के जीवन में मूल्य संक्रमण, पीढ़ियों के अंतराल आदि का अंतर्द्वंद्व इसका मूल कथ्य है। सामंतों के पाशविक अत्याचारों सहित नारियों की अपमानजनक स्थितियों का अंकन एवं भ्रष्टाचार आदि को विस्तृत फलक पर दर्शाया गया है। गिरिराजजी ने जहाँ एक ओर समाज की पुरातन रुढ़ियों पर कठोर प्रहार किए, वहीं अपने समय के अनुभवों को सार्थक अभिव्यक्ति भी दी। वे परंपरा का पुरान्वेषण करते दिखाई देते हैं।

पारिवारिक जीवन पर आधारित उपन्यास 'तीसरी सत्ता' उल्लेखनीय रचना है। यह मध्यवर्गीय शिक्षित पति-पत्नी और उन दोनों के बीच आने वाले एक ड्राइवर की कथा है। आज का पुरुष कामकाजी स्त्री की आय को तो स्वीकार कर लेता है पर उसका अन्य किसी पुरुष-सहकर्मी के प्रति सामान्य मित्रवत् व्यवहार या किसी भी अधीनस्थ कर्मी के प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार को सहन नहीं कर पाता। कथा नायिका रमा शर्मा को अपने शक्की पति द्वारा कितनी ही शारीरिक और मानसिक यंत्रणाएँ झेलनी पड़ती हैं; और बदरश्त की सारी हदें पार करने के बाद अंततः उनके आपसी संबंध टूट जाते हैं।

'यथा प्रस्तावित' कार्यालयीय वातावरण में तथा 'परिशिष्ट' उच्च शिक्षण संस्थानों में व्याप्त ऊँच-नीच की भावना, जातिवादी मानसिकता, दलित जाति के कर्मचारियों एवं छात्रों की उपेक्षा और उनके उत्पीड़न को आधार बनाकर लिखी गई रचनाएँ हैं। लेखक की चिंता यह है कि स्वाधीनता के इतने वर्षों बाद भी आज स्वाधीनता, समता और बंधुत्व की भावना का क्या हुआ? दलित समस्या और निम्न वर्ग की त्रासदी पर आधारित दोनों रचनाएँ उच्च वर्ग या सवर्णों की आज भी संकीर्ण मानसिकता को उजागर करती हैं।

'असलहा' के माध्यम से रचनाकार ने मिथकीय शैली में साम्राज्यवादी देशों और शक्तियों पर कठोर प्रहार किया है। जो विध्वंसक हथियारों के संकलन द्वारा अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर रहे हैं। विनाशक शक्तियों के प्रतिरोध में मानवीय संवेदना का संघर्ष इसका मूल प्रतिपाद्य है।

'यातनाघर' टेक्नोलॉजी के ख्यातिलब्ध एक उच्च शिक्षा संस्थान में फैली हुई बुराइयों एवं विसंगतियों को आधार बनाकर रची गई प्रामाणिक रचना है। इसमें अनुशासनहीनता, चाटुकारिता, स्वार्थपरता, पाश्चात्य संस्कृति का अधानुकरण, छात्रों की उच्छृंखलता, शिक्षा का राजनीतिकरण, बुद्धिजीवियों की खोखली मनोवृत्ति आदि पर विस्तृत रूप से प्रकाश पड़ता है।

‘पहला गिरमिटिया’ गिरिराजजी का बहुचर्चित एवं बहु-प्रशंसित शोधपरक महाकाव्यात्मक उपन्यास है। इसने गिरिराजजी को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित किया है। अब तक अंग्रेजी सहित अन्य भाषाओं में इसके अनुवादों ने इसे विश्व के कोने-कोने तक पहुँचाया है। नौ सौ चार पृष्ठों की महाकाव्य रचना का मूल प्रतिपाद्य मोहनदास गाँधी के दक्षिण अफ्रीका प्रवास का संघर्षरत जीवन है। ज्ञानपीठ समाचार के प्रकाशकीय वक्तव्य के अनुसार ‘पहला गिरमिटिया’ हिन्दी में अपनी तरह की पहली रचना है। यह बीसवीं शताब्दी का सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास है। निश्चय ही यह गिरिराजजी की एक कालजयी व्यक्तित्व पर आधारित कालजयी रचना है। विचार, भाषा और शिल्प की दृष्टि से भी वह उदात्त और अनूठी रचना है। सुप्रसिद्ध समीक्षक परमानंद श्रीवास्तव ने इसे भारतीय महाकाव्यात्मक उपन्यासों की शृंखला में एक ऐसा उपन्यास माना है जो अपने नायक के संघर्ष के विस्तृत आख्यान में हमें उबाता नहीं है। पिछले वर्षों में प्रकाशित उनके तीन उपन्यास ‘इक आग का दिया है’, ‘स्वर्गमृग’ तथा ‘बा’ भी विशेष चर्चा में रहे किंतु ‘बा’ ने ‘पहला गिरमिटिया’ के बाद विशेष प्रसिद्धि पाई। आधुनिक काल में स्त्री-मुक्ति और समाज सुधार की दृष्टि से जिन स्त्रियों के नाम लिए जा सकते हैं उनमें स्वाधीनता आंदोलन में स्वतंत्र रूप से अगर स्त्रियों के योगदान को ठीक ढंग से आँका जाए; तो कस्तूरबा का स्थान शीर्ष पर होगा। आज़ादी के लगभग सत्तर वर्ष बाद भी उनके चरित्र को आधार बनाकर हिन्दी में कोई उच्चकोटि की रचना नहीं लिखी गई थी; और इस दायित्व का निर्वहन किया गिरिराज किशोर ने। यह उपन्यास सिर्फ कस्तूरबा की जीवनी या उनके व्यक्तित्व का चरित्र-चित्रण मात्र नहीं है, कस्तूरबा के माध्यम से या उनकी दृष्टि से आज़ादी के महानायक गाँधी को समझने का आख्यान भी है।

विगत दिनों प्रकाशित उनका उपन्यास ‘आजनेय जयते’ में हनुमान के मिथकीय चरित्र को बेहतरीन ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इसमें हनुमान के संघर्ष और शक्ति पर वृहद ढंग से प्रकाश पड़ता है। यह चित्रांकन गिरिराजजी के अच्छे-खासे शोध का परिणाम है।

उपन्यासों के अतिरिक्त कहानी और नाट्य साहित्य में भी गिरिराजजी ने विपुल योगदान किया है। एक दर्जन से अधिक प्रकाशित कहानी संग्रह, आधा दर्जन से अधिक प्रकाशित नाटकों की विषय-वस्तु में अपने समय का यथार्थ है; जिसे लेखक ने देखा और रचा। उनकी कहानियों में अनुभवों की विविधता है। इससे वे एकरसता से बच सकी हैं। सामाजिक, राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक समस्याओं से लेकर राष्ट्रीय/अंतरराष्ट्रीय स्तर पर कोई भी ऐसा संदर्भ नहीं है; जिससे उनका कथा-साहित्य अछूता रहा हो। विषयों का पिष्टपेषण भी नहीं हुआ है। अपने दमदार चरित्रों के कारण उनके नाटक ही नहीं, उपन्यास और कहानियाँ भी हमारे मानसपटल पर अंकित हो जाती हैं।

गिरिराजजी का वैचारिक लेखन भी अत्यंत उच्च कोटि का है। समय-समय पर प्रकाशित विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में उनके वैचारिक लेख, ‘अकार’ के संपादकीय आलेख तथा उनकी आलोचना की कृतियाँ, ‘संवाद सेतु’, ‘लिखने का तर्क’, ‘कथ-अकथ’, ‘सरोकार’, ‘एक जनभाषा की त्रासदी’, ‘सप्तपर्णी’ तथा उनके लेखों का मूल्यवान संग्रह ‘जन-जनसत्ता’ में उनका वैचारिक लेखन हिन्दी साहित्य ही नहीं अन्य सामाजिक विषयों की भी अमूल्य निधि है। समकालीन सामाजिक समस्याओं यथा सांप्रदायिकता, भाषावाद, क्षेत्रवाद, जातिवाद, बाजारवाद

एवं मुक्त अर्थव्यवस्था, आतंकवाद, नक्सलवाद, लोकतांत्रिक मूल्यों का क्षरण, भ्रष्टाचार, महंगाई, अपराधीकरण, बहुराष्ट्रीय कंपनियों का वर्चस्व, कुटीर उद्योगों, हस्तशिल्प का हास, बेरोजगारी, निर्धनता, गाँधी दर्शन, विश्व शांति, भाषा और राजनीति, हमारी विज्ञान दृष्टि, चुनाव प्रणाली एवं वोटों की राजनीति, साहित्यिक संस्थान और पुरस्कारों की राजनीति सहित अनेक प्रश्नों एवं समस्याओं पर अपनी बेबाक राय दी है। साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में भी गिरिराजजी ने बहुमूल्य योगदान किया था। उन्होंने हिन्दी की लब्धप्रतिष्ठ पत्रिका ‘अकार’ के पैंतीस अंकों का संपादन किया था, जिसके संपादकीयों का संकलन ‘फ़िलहाल’ शीर्षक से 2014 ई. में प्रकाशित हुआ था। इस पुस्तक के वैचारिक आलेखों का बहुत महत्त्व है जिनमें अपने समय के साक्षात्कार हैं।

उनके कथा-साहित्य में विषयों का वैविध्य है, कहीं भी पिष्टपेषण नहीं हुआ। स्त्री और बाल मनोविज्ञान की दृष्टि से भी उनके उपन्यास विशेष उल्लेखनीय हैं। गिरिराजजी कस्य के साथ शिल्प के प्रति भी एक सजग रचनाकार थे। पात्रानुकूल तथा नये अर्थ-संदर्भों से युक्त भाषा, यथावश्यक संकेत चिन्हों और फ्रैंटेसी शैली में लिखे गए उनके उपन्यासों के अनुकरण पर बाद में अनेक रचनाकारों ने लिखा था।

व्यक्तिगत जीवन में मानवीय करुणा, संवेदनशीलता और जीवन मूल्यों के प्रति अगाध निष्ठा रखने वाले गिरिराज किशोर अतिशय आतिथ्य प्रेमी थे। वे नवाँकुरों का मार्गदर्शन भी करते थे। कानपुर के लगभग सभी कथाकारों ने उनसे मार्गदर्शन प्राप्त किया था। वे हमारे समय के एक प्रखर एवं तेजस्वी रचनाकार थे। उनका साहित्य अपने समकालीनों से इस मायनों में अलग रहा कि वे वादों, विवादों तथा प्रवादों से सदैव निरपेक्ष रहे। फ्रैंशन वाले विमर्शों या नारेबाजी से दूर वे सिर्फ मनुष्यता की पीर के लेखक थे। उनके लेखन का मूल उद्देश्य था कि आम आदमी को यंत्रणाओं से कैसे मुक्ति मिले। गिरिराजजी में लेखकीय अहंकार नहीं था। उनका मानना था कि एक लेखक को यश, सम्मान और धन की आकांक्षा बिल्कुल नहीं करनी चाहिए बल्कि उसे समाज से मिलने वाले तिरस्कार और उपेक्षा के लिए भी तैयार रहना चाहिए। लेखक को यह जानना चाहिए कि यह क्षेत्र पद या अधिकार का क्षेत्र नहीं है। यह बहुत लोकतांत्रिक क्षेत्र है, और उसमें आपकी जवाबदेही भी बनती है। इसलिए लेखक में अहंकार का होना अच्छा नहीं है। यह आपके लेखन-कार्य को समाप्त कर देता है। नवाँकुरों को उनका यह संदेश होता था कि बड़े लेखकों की भक्ति अच्छी बात नहीं है बल्कि उनसे प्रेरणा लेकर कुछ और अच्छा, और नया लिखते रहना चाहिए।

गिरिराजजी का लेखन और चिंतन अत्यंत व्यापक होने के बावजूद उनकी अपनी एक सुचिंतित और सुविचारित दृष्टि थी, उनके विचारों में कहीं भी बिखराव नहीं है। अंतर्वस्तु के स्तर पर यदि उन्हें किसी वैचारिक खाँचे में फिट ही करना हो तो उन्हें गाँधीवादी विचारों का सबसे बड़ा साहित्यकार माना जा सकता है। ‘पहला गिरमिटिया’ लिखकर उन्होंने गाँधी के साथ-साथ स्वयं को भी कालजयी रचनाकारों की श्रेणी में सम्मिलित कर लिया है, जैसे राम के आख्यान को लिखकर तुलसी एक कालजयी रचनाकार बन सके। दरअसल गाँधी दर्शन एक ऐसा दर्शन है जो कभी भी अप्रासंगिक नहीं होगा। इसलिए गिरिराजजी का साहित्य भी सदैव प्रासंगिक रहेगा। □

‘पहला गिरमिटिया’ के बरक्स ‘कस्तूरबा’

अरविन्द मोहन

सीधे, सरल और सिद्धांतप्रिय गिरिराज किशोर के संबंध में पहला आश्चर्य तो यही होता है कि आईआईटी की प्रोफेसरी और प्रशासनिक जिम्मेदारियाँ निभाते हुए उन्होंने हिन्दी में इतना लेखन किस तरह किया। हिन्दी लेखन की भयंकर गुटबाजी वाली दुनिया में ‘ढाई घर’ जैसे उपन्यास क्यों और कैसे सराहे गए और पुरस्कृत हुए, इस लेखक को नहीं मालूम। सुना है गिरिराजजी पर कई गंभीर आरोपों वाले मुकदमे भी चले थे और वे बेदाग निकल आए। फिर इन सबसे इस लेखक को कोई खास मतलब नहीं था लेकिन जिस दिन उनका भारी-भरकम उपन्यास ‘पहला गिरमिटिया’ छपा और ज़रा सी चर्चा पा गया सचमुच इस लेखक के कान खड़े हो गए। लगभग अनजान लेखक का आठेक सौ पन्नों का उपन्यास पढ़ना एक चुनौती सी थी। पर न जीवनी, न आत्मकथा, न खालिस कथा साहित्य, न इतिहासग्रंथ को पढ़ते हुए ऐसा आनंद आया कि अचानक गिरिराजजी और उनका परिश्रम अपना लगने लगा। इस किताब को काफ़ी सम्मान मिला, काफ़ी अनुवाद हुए, काफ़ी अलग-अलग रूप-ने रंग नसीब हुआ। हिन्दी में इसका संक्षिप्त संस्करण ‘गिरमिटिया गाँधी’ आलोचक निर्मला जैन ने खुद से तैयार किया जो अपने-आप में अद्भुत है लेकिन हिन्दी जगत पर गिरिराजजी का ऋण बना ही रहेगा और यह अकेला उपन्यास उन्हें यशस्वी बनाए रहेगा।

के साथ हुआ है।

गिरिराज किशोर कोई बनावटी यूँ ही नहीं उठा लिया था। इसके और लेखन गाँधीमय लगता है। और कस्तूरबा पर लिखे उनके उपन्यास बीते बीसेक सालों का श्रम साफ़ खुद बताया था, ‘कस्तूरबा गाँधी’ के ऊपर भी एक उपन्यास लिख प्रकाशित तो नहीं हुआ है और पक्की सूचना नहीं है लेकिन गाँधी, ऐसी लाइन तो बनती ही है जो है।... उस पॉत में जिसमें उनके दौर हिन्दी कथा साहित्य में और किसी गाँधीवादी धारा का तो नहीं ही था। गाँधीवादी धारा के सूख जाने के गिरमिटिया’ जैसी रचना से एक जगह बनाना गिरिराजजी का ऐसा काम है जिसे भुलाना भी आसान नहीं है।

‘पहला गिरमिटिया’ गाँधी के दक्षिण अफ्रीका के जीवन पर आधारित उपन्यास है। हम सब जानते हैं कि गाँधी ने खुद ही ‘दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह का इतिहास’ नामक बड़ी और खूबसूरत किताब लिखकर वहाँ के अपने आंदोलनों का आधिकारिक ब्यौरा दिया है, वहाँ के समाज और शासन का ही नहीं, इतिहास, भूगोल और नागरिकशास्त्र का बहुत रोचक वर्णन किया है और यह किताब पर्याप्त लोकप्रिय भी है। उनकी आत्मकथा भी 1921 में ही लिखी गई थी और इसमें भी दक्षिण अफ्रीका का उनका जीवन प्रमुखता से आया है लेकिन यह सब गिनवाने का मतलब गिरिराजजी के श्रम को छोटा बताना नहीं है। गाँधी साहित्य के अध्ययन के साथ समकालीन साहित्य का अध्ययन करने के बाद वे लगभग पूरी तरह अपने साधनों से ही दक्षिण अफ्रीका की ख़र्चीली यात्रा पर गए, गाँधी के वहाँ के प्रमुख ठिकानों पर पहुँचे और काफ़ी सारी नई जानकारियाँ जुटाई लेकिन जाहिर तौर पर यह इतिहास का ग्रंथ नहीं है। इसलिए इसमें चाहे जितने ब्यौरे हों, किसी के रगत निकलने की अभी तक कोई सूचना न हो पर इसका मुख्य काम अनगढ़ वकील मोहन दास के महात्मा गाँधी में रूपांतरण



गाँधी-प्रेमी न थे। यह विषय उन्होंने सहारे देखने पर उनका पूरा जीवन इसी क्रम में अगर तीन साल पहले को जोड़ लें तो उनका लेखन और दिखाई देगा। इस लेखक को उन्होंने लिखने से पहले, कि वे डॉ. लोहिया रहे हैं। वह उपन्यास अभी तक उसके लिख लिए जाने की भी कोई लोहिया और कस्तूरबा मिलाकर एक गिरिराजजी को अलग पॉत में बैठाती में बैठना मुश्किल था। उनका दौर भी चीज़ का रहा हो। कम-से-कम और, आज़ादी के आसपास वाली बाद इसे फिर जिलाना और ‘पहला



को दिखाना था। उन्हीं पक्के तथ्यों को कथा और नाटक में बदलते हुए लेखक ने बहुत ही खूबसूरती से गाँधी के अंदर आते जा रहे बदलाव को दिखाया है। यही चीज इस किताब को, इस लेखक को अमर बनाती है। गिरिराजजी की खूबी यह है कि वे गाँधी के इस रूपांतरण के हर पक्ष को खूबी सामने लाते हैं। गाँधी अब्दुल्ला सेठ की कानूनी मदद के लिए गए थे। अपनी ईमानदार कोशिशों से वे न सिर्फ उनके मुकदमे में लाभ दिलवाते हैं बल्कि धीरे-धीरे एक वकील के तौर पर भी जमते जाते हैं। परिवार लाते हैं और उनमें भी लगातार बदलाव की कोशिश करते हैं। कस्तूरबा और बच्चे ही नहीं, भतीजे मगनलाल और छगन लाल, भानजा और कई दूसरे लोग भी नये गाँधी के रंग में रंगते हैं। धीरे-धीरे हिंदुस्तानियों से जुड़े मसले उठते हैं। और बाद में तो पूरा संघर्ष ही होता है। सारा कुछ शांतिमय और अहिंसक। निजी स्तर पर गाँधी अपमान, हिंसा (दो-दो बार जानलेवा हमला झेलकर), कई बार की जेल (जहाँ नौ-नौ घंटे पत्थर तोड़ने और हथकड़ी-बेड़ी में जकड़े जाने का प्रत्यक्ष अनुभव भी हुआ और उपवास सत्याग्रह में बदलते जाते हैं। और साथ ही कस्तूरबा और आसपास के काफ़ी सारे लोगों को भी बदलते जाते हैं।

बा न सिर्फ उनके ब्रह्मचर्य के एकतरफ़ा फ़ैसलों को मानती हैं बल्कि जेल जाने और वहाँ अनशन करने जैसे क़दम उठाने में पीछे नहीं रहतीं। दो आश्रम बने, उनका अपना जीवन चला, चार अख़बार निकले, श्रम आधारित जीवन और वैकल्पिक शिक्षा के प्रयोग हुए। सिर्फ़ सेक्स का जीवन छोड़ने का प्रयोग नहीं हुआ, निजी संपत्ति से वैराग्य भी सीखा गया। अंग्रेज़ी हुकूमत की मदद की गई तो उसका विरोध भी। और पश्चिमी सभ्यता को शैतानी बताने के साथ उसका विकल्प भी सोच लिया गया जो वापसी के जहाज़ में 'हिन्द स्वराज' लिखने के रूप में आया। सिर्फ़ हिंदुस्तानियों में काम हुआ लेकिन गोरे दोस्त भी हुए काले भी। अंग्रेज़ी शासकों से मज़बूती से निपटा गया और हमलावरों के साथ प्रेम दिखाया गया। जैसा पहले कहा गया है इनमें से ज्यादातर प्रसंगों के विवरण जब गाँधी खुद उपलब्ध करा रहे हों तब गिरिराजजी का काम आसान माना जा सकता है पर वैसा था नहीं। इतने बड़े व्यक्तित्व का उभरना और उभारना बहुत बड़ी रचनाशीलता और कल्पनाशीलता

की माँग करता है। लेखक ने अहम काम बहुत खूबसूरती से किया है बल्कि उसने सर रिचर्ड एटनबरो की तरह कहीं सिर्फ़ कल्पना के आधार पर कहानी बढ़ाने जैसी आज़ादी भी नहीं ली है। समुद्र यात्रा के प्रसंग, जहाज़ का जीवन से लेकर गाँधी के विशाल परिवार के अंदरूनी संबंधों तक और गाँधी के सार्वजनिक जीवन तक के सारे ब्यौरे एकदम पक्के हैं लेकिन उपन्यास की रोचकता भंग नहीं होती।

गिरिराजजी का दूसरा उपन्यास 'कस्तूरबा' क्यों उतना महत्वपूर्ण और चर्चित नहीं हुआ, यह समझना थोड़ा कठिन है। शायद बा का हिंदुस्तानी जीवन कम नाटकीय रहने और गाँधी जैसे विशाल वटवृक्ष की छाया में होने के चलते लेकिन उन्होंने यहाँ भी बा के चरित्र के सभी पक्षों को समेटने की कोशिश की है जिससे उनका व्यक्तित्व बहुत मज़बूती से उभरता है। वे सिर्फ़ गाँधी की पत्नी और उनके बच्चों की माँ न होकर पूरे जीवन गाँधी की सबसे बड़ी और मज़बूत सहयोगी के रूप में उभरती हैं। गाँधी की उनके ऊपर कई मामलों की निर्भरता भी शायद पहली बार इस उपन्यास के माध्यम से सामने आया है पर इसकी सबसे बड़ी खूबी बा को बा ही बनाए रखने की है। जब से गाँधी के हिंदुस्तान आने और विभिन्न आंदोलनों की शताब्दी मनाने का क्रम शुरू हुआ है तब से गाँधी पर लिखना फ़ैशन में आया है और अचानक हम कस्तूरबा पर कई उपन्यास छपा देखते हैं। इनमें से ज्यादातर में एक नकली महिलावादी नज़रिए से बा को गाँधी की पुरुष सत्ता का शिकार बताने का प्रयास किया गया है। बा के जीवन में यह बात सरोजिनी मजाक में कहती थीं तो जहाँ-तहाँ से इसका सुर सुनाई देता था। बा इस बात को एकदम नापसंद करती थीं और यह कहती थीं कि गाँधी से बड़ा पति किसे मिल सकता था और अगले जनम भी वही पति मिलें। गिरिराजजी का उपन्यास इस बीमारी से अछूता है और इसमें न तो बा को कमजोर, बेचारी और गाँधी के उल्टे-सीधे प्रयोगों का शिकार बताया गया है न ज़रूरत से ज्यादा दबी। वह एक मज़बूत साथी, भरोसेमंद पत्नी और सहयोगी, दुनियावी लोभ मोह को छोड़ते जाने वाली नायिका के रूप में उभरती हैं जो ऐतिहासिक तथ्यों के करीब है पर जाहिर है वे गाँधी नहीं हैं। शायद इसी कारण उपन्यास 'कस्तूरबा' 'पहला गिरमिटिया' से पिछड़ता है। □

आजकल के ग्राहक बनें :

मैं आपकी पत्रिका-----का □ एक वर्ष (230 रुपये)

□ दो वर्ष (430 रुपये) □ तीन वर्ष (610 रुपये) का ग्राहक बनना चाहता हूँ।

शुल्क का रुपये-----डिमांड ड्राफ्ट

-----दिनांक-----संलग्न है।

हस्ताक्षर-----

नाम

:-----

पता

:-----

पिन : □□□□□□

● कृपया अपना चंदा डी.डी. महानिदेशक, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के नाम बनाएँ।

● पत्रिका भेजने में, चंदा प्राप्त होने के बाद, आठ से दस सप्ताह का समय लगता है। कृपया इतने समय प्रतीक्षा करें।

● 'आजकल' पत्रिका ऑनलाइन ख़रीदने के लिए कृपया www.bharatkosh.gov.in पर जाएँ।

● दिल्ली से प्रकाशित हमारी अन्य पत्रिकाएँ हैं : बाल भारती, आजकल (उर्दू), कुरुक्षेत्र (हिन्दी व अंग्रेज़ी), योजना (हिन्दी, अंग्रेज़ी, उर्दू, पंजाबी व उड़िया)।

चंदा निम्न पते पर भेजें :

संपादक (प्रसार)

प्रकाशन विभाग, कमरा नं. 56, सूचना भवन, सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003

साध

सुषमा मुनीन्द्र

बाबू अक्सर कहता है— समय बहुत बदल गया है। जो बात पहले थी अब नहीं है। लोटन नहीं समझ पाता बाबू ऐसा क्यों कहता है। अम्मा हौं में हौं क्यों मिलाती है। उसे तो सब यथावत लगता है। वैसा ही बोसीदा और बंद-सा। मटमैली-पिलपिली कोठरी, गंदे कपड़ों की गठरी-मोठरी, धधकती लपट फेंकती भट्ठी पर चढ़े दैत्याकार पात्र में डुबोकर टूँसे गए सोडा से गँधाते कपड़े, नदी का कछार, भारी-भरकम काला लोहे का प्रेस, जिसे बाबू लोहा कहता है, भाँग के अत्यधिक प्रयोग से सूखता जा रहा बाबू का लंबा घेहरा, पता नहीं किस बीमारी से कमजोर हो गया अम्मा का दाहिना पैर.....। कुछ भी तो नहीं बदला। यदि कुछ प्रीतिकर है तो वह विशाल सुंदर भवन जिसे बाबू बैंगला कहता है। लोटन को घर-घर जाकर प्रेस के लिए कपड़े लाना, प्रेस किए कपड़े पहुँचाना हताश करता है। गुनगुनाती धूप पसरी हो अथवा हड़डी गलाती शीत या रिमझिम फुहार वह कमजोर अवयस्क कंधों पर चादर में बँधे कपड़ों की गठरी लादे अपने बेवाई पड़े दस वर्षीय क़दमों से सड़क नापता है— बदस्तूर। एक यह बैंगला ही है जहाँ जाना उसे अच्छा लगता है। उसने इस बीच स्थिति-परिस्थिति में कुछ बदलाव देखे हैं लेकिन इन बदलावों से समय बहुत बदल गया है, वाली बाबू की बात जाहिर नहीं होती। इस बीच हुआ तो इतना ही है कि उसकी कोठरी के ठीक बगल वाली गली के मुहाने जो एक तरह से मुख्य सड़क से जुड़ा है, पर सरकारी तौर पर एक चापाकल लग गया है। वह जोर-जोर से फ़िल्मी गाने गाते हुए छप-छप कर खूब नहाता है। पिछले साल उसकी जिज्जी रोती-सुबकती ससुराल चली गई है। बड़े भाई मिलन को भउजी ने क्या पट्टी पढ़ाई कि वह बाबू का काम छोड़ सपत्नीक अपनी ससुराल विजय राघवगढ़ गया और किसी होटल में दरबानी पकड़ ली। मिलन की गद्दारी देख मझला सरमन (श्रवण) भी बहकी-बहकी बातें करने लगा है। यदि बाबू इन बातों को समय का बदल जाना कहता है तो ठीक ही कहता होगा।

मिलन की गद्दारी को लेकर बाबू जब-तब हौंफने-हौंफरने लगता है—

“कसाई को पाल-पोस के जवान-जहान बनाए। देखो भाग गया। कहत रहा लोहा घिस के अपना जीवन को कंटाल न करेंगे। यह लोहा के कमाई खाए के लंबा तड़ंग हुआ। कद-काठी देख के ही होटल वाला दरबान की नौकरी दिया होगा।”

सरमन को बाबू के पछतावे से मतलब नहीं, “मिलन सुपास (सुविधा) बना लिया लेकिन मैं पड़ा हूँ इस कोयले की खदान जैसी कोठरी में। बाबू, तुम भिनसारे से लोहा दहकाने लगते हो, अम्मा चूल्हा फूँकने लगती है। धुआँ अउर राख। सगरा दिन आँख कडुआती है।” लोटन को सरमन की गुहार ठीक लगती है। वह खुद भी बाबू को लोहा और अम्मा को चूल्हे से अलग कर नहीं देख पाता है। बाबू दिन-रात बड़ी मेज़ पर झुका हुआ कपड़ों में लोहा घिसता रहता है। न इसके हाथ थकते हैं, न कमर पिराती है और चूल्हे में अम्मा की कभी भाजी फदक रही है, कभी दाल का अदहन सनसना रहा है जबकि सरमन की गुहार सुन बाबू का हौंफना-हौंफरना बढ़ जाता, “कडुआती हैं त तहूँ चला जा मिलन के डेरे पर। सहरी भउजी की साड़ी पखारना अउर, कउनो होटल में दरबानी पकड़ लेना। यहाँ हम हैं हाड़ गलाने को।”

कहते हुए बाबू कातर लगता है। लोटन को दया आ जाती है। बाबू रोज़ धोबी घाट नहीं जाता लेकिन जब जाता है लोटन भी उसके साथ चल पड़ता है। भाँग खाने से बाबू के फेफड़े कमजोर हुए जाते हैं। कपड़ा पछारता है तब उसके मुँह से थकान वाली अजीब-अजीब ध्वनियाँ निकलती हैं। बाबू के प्रति लोटन की दया बढ़ जाती है। तत्काल प्रभावित होते हुए वह बाबू की मदद करने लगता है। बाबू उसे अंतिम सहारे के रूप में देखता है। ठीक इसी मौक़े पर लोटन की मानसिकता बनाने लगता है—

“लोटन, तू अपने भाइयों की तरह कसाई नहीं है। मातिबर (दया-ममता वाला) है। ले, पिछैरी (चादर) का छोर पकड़.... एक मैं पकड़ा हूँ ...निचोड़... अउर जोर से... ताकत लगा... हाथ घुमा... शाबाश... काम



देखेगा तबहिन सीखेगा। दरबानी में इज्जत नहीं है। दूसरे की चाकरी से अपना धंधा भला है। मिलन चला गया... सरमन जनम का बैरी। सट्टा खेलता पता नहीं दिन भर कहाँ हेराया (खोया) रहता है... तू मातिबर है...।”

कातर हो रहे बाबू पर लोटन की दया बढ़ जाती है—

“चिंता न करो बाबू। मैं बहुत पढ़ूँगा। साहब बनूँगा। तुम और अम्मा बैठ कर खाना।”

“मोरे भाग में बड़ के खाना नहीं लिखा लोटन। मिलन कहता था काम को बरकत देगा। तुझे पढ़ाएगा। लबरा (झूठ) मेहेरिया के बहकावे में चला गया।”

बैठा कर खिलाएगा जैसा भरोसा बाबू को देने के लिए लोटन चादर को निचोड़ते हुए अपनी भुजाओं और कमर को शक्ति भर ऐंठ-मरोड़ डालता है। रात में जब सोता कंधे और हाथों में पीड़ा समाई होती जबकि उनींदी आँखों में एक सपना जगर-मगर करता-पढ़ेगा, साहब बनेगा, बाबू-अम्मा को बैठा कर खिलाएगा। पहले वह इस क्रिस्म के सपने नहीं देखता था। सपने ही नहीं देखता था। विशाल सुंदर भवन जिसे बाबू बैंगला कहता है, में कपड़े लाते-पहुँचाते हुए उसका, बैंगले में रहने वाले समवयस्क बिट्टू से परिचय न होता तो अब भी उसकी सपने न देखने वाली आदत कायम होती। बिट्टू सफ़ेद धुले प्रेस किए कपड़ों-सा तहाया हुआ साफ़ और सुंदर और वह भट्ठी में चढ़े मुड़े-तुड़े, सोडा की तीक्ष्ण गंध से गंधाते कपड़ों-सा गंदा और मुसमुसा। अपनी कृष्ण चमड़ी में साबुन घिसता है पर चमड़ी में सुधार नहीं होता। वह बिल्कुल नहीं जानता था बिट्टू उसे पढ़ने के लिए प्रेरित ही नहीं कर रहा है बल्कि सपने देखने की आदत डाल दे रहा है। एकाएक उसे लगने लगा वह बिट्टू की तरह होता तो बहुत अच्छा होता। सुबह-सुबह कार में सवार होकर बिट्टू की तरह शाला जाता। अक्सर जब वह सुबह चापाकल पर नहा रहा होता बिट्टू शाला जा रहा होता। अक्सर नहीं पर जब कभी बिट्टू की नज़र स्नान कर्म संपन्न कर रहे लोटन पर पड़ती है बिट्टू मुस्करा देता है। लोटन सकुचा कर नज़र नीची कर लेता। बिल्कुल छिपे हुए तरीके से नीची नज़र के कोने से बिट्टू की यूनीफ़ॉर्म को देखता। सफ़ेद शर्ट, कॉफ़ी रंग की पतलून, टाई। बिट्टू यूनीफ़ॉर्म में खास लगता है। बिट्टू की यूनीफ़ॉर्म के प्रति बाबू बहुत चिंतित रहता है—

“क्रीज़ ठीक से नहीं बनेगी तो बिट्टू बाबा गुस्सा हो जाते हैं। मालकिन (बिट्टू की माँ) की साड़ियों में कलफ़ ठीक से एकसर (एकसार)न हो तो कह देती हैं यह देखो यहाँ कलफ़ की कैसी मोटी परत लगाए हो। पै मेरा काम उनको पसंद है। लोहा के लिए बहुत कपड़ा देती हैं। हिसाब-किताब में बहुत जोड़-बाकी नहीं लगाती। जेतना कहो दे देती हैं।”

अम्मा अनुमोदन करती, “अउर का? पुरानी साड़ी, कुर्ता-पायजामा, बड़ी-अचार देतय रहती हैं। मिलन उनकी कीमती साड़ी लोहा करत-करत जला दिया था। साड़ी चार परत जली थी। मालकिन ने फटकारा जरूर पै साड़ी का पइसा नहीं वसूला था।”

जबकि एक महिला ने साड़ी की आधी कीमत वसूल कर ली थी। कोठरी में चूहे पजा गए थे। महिला की साड़ी को चूहों ने कई स्थान पर कुतर डाला था। बाबू ने हाथ-गोड़ जोड़े थे— “गलती हुई है पै बाई साहेब एतना पइसा दे देंगे तो या महीना में का खाएंगे?”

महिला ने मुआवज़ा लेकर तोश पाया था। बाबू तत्काल प्रभाव से उधारी पर मज़बूत पत्तर वाला लंबा बक्सा खरीद लाया था। लोटन को दिन भर दौड़ाता रहता था। जैसे ही कपड़ों में लोहा हो कपड़े घरों में दे आया करे। जो नहीं दे पाता था उन्हें बाबू सहेज कर बक्से में रख देता था।

जब लोटन छोटा था और अम्मा का दाहिना पैर उम्दा था घरों में कपड़ा लाने-पहुँचाने का काम अम्मा कर देती थी। अपनी वाचाल वृत्ति के कारण गृह स्वामिनी से देस-दुनिया की चार बातें कर पहुँच बना लेती। मौक़े-मौक़े पर पुराने कपड़े, अचार, बड़ी, गुड़ जैसी जरूरी सामग्री कबाड़ लाती। अब तो धचकते हुए तभी जाती है जब कुछ माँगना होता है। कपड़े लाने-पहुँचाने का प्रभार पूरी तरह से लोटन का है।

लोटन को पहले बैंगला अर्चभित करता था। बिट्टू घमंडी लगता था। अब नहीं लगता। लोटन कपड़े की गठरी लिए-दिए गिर पड़ा था। लगा बिट्टू रुष्ट होगा पर बिट्टू तरस दिखाते हुए बोला—

“लोटन संभल कर चला करो। जितने बड़े हो नहीं, उससे बड़ी गठरी सिर पर रखते हो।”

लोटन हड़बड़ा गया था, “गलती हो गई बिट्टू भैया।”

बिट्टू की तरस बढ़ गई, “कोई बात नहीं। तुम्हें चोट तो नहीं लगी?”

“नहीं।”

“स्कूल जाते हो?”

“पहिले जाता था। वो जो हनुमान मंदिर के पास वाला इसकूल है, आप कार से इसकूल जाते समय देखते होंगे, उसी में जाता था। कच्छा तीन तक पढ़ा, बस।”

“फिर क्यों नहीं पढ़ा?”

“मिलन भाई कहता था, बाबू के साथ लोहा करेगा, हमको पढ़ायेगा पै वो दूसरे सहर चला गया। अब मुझे काम करना पड़ता है। मैं रोज इसकूल नहीं जा पाता था। सबक भी नहीं करता था। गुरुजी मुर्गा बना देते थे। बाबू ने कहा इसकूल न जा। काम कर।”

“फिर से स्कूल में नाम लिखा ले। पढ़। पढ़ेगा तो तुझे कोई बेवकूफ़ नहीं बना पाएगा। पढ़ कर कुछ बन जाएगा तो तू और तेरा बाबू गरीब नहीं रहोगे।”

“पढ़ कर मैं साहब बन सकता हूँ?”

“पहले पढ़ तो।”

“इस कूल में आपको मज़ा आता है भैया?”

“बहुत। पढ़ो, ब्रेक में मिल-जुल कर खाओ। पेंटिंग करो, पिकनिक मनाओ। इसी साल मैं स्कूल टुअर पर पचमढ़ी गया था।”

बिट्टू की बातें लोटन को जादुई लगती हैं। उसकी यूनीफ़ॉर्म आकर्षित करती है। कितना अच्छा हो वह कड़क यूनीफ़ॉर्म पहन कर स्कूल जाये, जल्दी-जल्दी बहुत-सी कक्षाएँ पास कर ले, साहब बन



जाए। अम्मा-बाबू बैठ कर खाए। बिट्टू के घर से लौट कर लोटन गला फाड़ कर बाबू से बोला—

“बाबू, मैं इस कूल जाऊँगा। पढ़ूँगा। आगे से घर-घर कपड़ा नहीं पहुँचाऊँगा।”

लोहा कर रहे बाबू ने उसे मोह से देखा “आज इसकूल की सुध काहे आ गई?”

“पढ़ना चाहता हूँ। फिर मुझे कोई बेवकूफ नहीं बना पाएगा। याद है अभी किसी दिन मैं कॉलेज वाले सर के घर से कम पैसे लाया था? तुमने फिर दौड़ा दिया था कि इतने और ला।”

“मैं पढ़ा-लिखा नहीं हूँ, का हिसाब नहीं जानता हूँ?”

हुसियारी सीख ले, हिसाब में गलती नहीं करेगा। सुन बेटा, चार आखर पढ़ने से जन्म न सुधरेगा। मिलन कसाई। सरमन, सट्टा खेलता दिन भर कहीं पड़ा रहता है वह हम नहीं जानते। तैं अपने घर के धंधा में दिमाक लगा। लोहा करना सीख।” बाबू पूर्ववत् लोहा करने में दत्त था।

लोटन ने विश्वोभ से बाबू को देखा “मैं बिट्टू भैया के जैसे इसकूल काहे नहीं जाऊँगा?”

“बिट्टू बाबा के पापा के पास पइसा है, तोर बाप गरीब है। आ, तोही लोहा करना सिखाता हूँ। देख केतना मजा आता है।”

किताब पकड़ने की साथ रखने वाले हाथों को बाबू लोहा पकड़ना चाहता है। लोटन की धमनियों में दमित रोष सनसनाने लगा। लोहा करना सीखे क्योंकि काली कोठरी में पैदा हुआ है। बिट्टू स्कूल जाए क्योंकि बँगले में पैदा हुआ है। पर जन्म पर किसका वश चलता है?

“बाबू, मैं इसकूल जाऊँगा। लोहा नहीं घिसूँगा।”

बाबू को थोड़ा ठहर कर, शांत भाव में संतान को बहलाने-दुलारने का अवकाश नहीं। उकता कर बोला—

“अभी से काम चोरी सीखने लगा। खाता चार बार है। मैं हाथ-पैर तोड़ कर रख दूँगा। ले लोहा पकड़।”

मिलन के बागी हो जाने, सरमन के रवैये से बगावत का आभास मिलने से आशंकित बाबू, लोटन पर पकड़ बनाए रखना चाहता है। उसे घर से जोड़ कर रखने का उद्यम करना चाहता है। हाथ-गोड़ तोड़ने की धमकी कारगर साबित हुई। लोटन सशर्त समझौते पर आया, “बिट्टू की डिरेस में लोहा करूँगा।”

बाबू जोखिम नहीं लेगा, “नहीं। तू डिरेस जला देगा। गाहकी (ग्राहकी) छूट जाएगी। आ, लोहा पकड़।”

लोटन अरुचि का प्रदर्शन करते हुए लोहा सरकाने लगा। रिंग मास्टर सा साथ लगा बाबू निर्देशित करने लगा—

“ऐसे लोहा पकड़ेगा? हाथ टूट गया है?... पहिले कालर से शुरू कर... देख सलवट पड़ गई... बाँह को इस तरह मोड़ना चाहिए... समझे...

लोहा करने से पहिले सूती कपड़ों को पानी के छींटें मार कर मुलायम करना चाहिए, अच्छी क्रीज बनती है... एक कपड़े में लोहा करने में घंटा लगाएगा तो चल चुकी दुकान... हाथ चला... हौ... ऐसे... शाबास ...।”

बिट्टू की यूनीफ़ॉर्म में लोहा करता तो कुछ मजा आता पर बाबू अलग ज़िद्दी है। सामने की सड़क से यूनीफ़ॉर्म पहने हुए आते-जाते बच्चों को देख लोटन का जी ललकता है। स्कूल जाने वाले बच्चों में एक ठसक होती है। लोटन की बहुत बार इच्छा हुई बिट्टू की यूनीफ़ॉर्म पहन कर सड़क में घूमे और स्कूल जाने का भ्रम पैदा करे पर बाबू

हाथ-पैर तोड़ देगा। लोटन का कोप कायम रहता लेकिन शायद उसे प्रभावित करने के लिए बाबू ने अम्मा से एक अच्छी बात कह दी—

“ददू की सादी में जाना है। कुछ तैयार कर ले। जो साड़ी लोहा करने को आई हैं उनमें से दो-चार निकाल ले। सादी में पहन लेना। शादी से लौट कर मैं फिर से लोहा कर दूँगा। मैं भी दो-तीन कुरता-पायजामा पहन कर देख लूँगा। जो नाप के होंगे, सादी में पहिर लूँगा।”

“अउर लोटन का पहिरेगा?”

“बड़े मौका में बिट्टू बाबा की जींस अउर जाकिट लोहा करने को आई है। लोटन पहिर लेगा।”

यह परिवार इसी तरह मौके-अवसर पर वस्त्र आपूर्ति कर लेता है। ददू मामा का विवाह और बिट्टू के वस्त्र धारण करने जैसा दुर्लभ अवसर। बारात वाले दिन लोटन खूब रगड़ कर नहाया। तेल-फुलेल-अतर लगा कर बन-ठन गया। लगा कृष्ण वर्णी त्वचा, बिट्टू की त्वचा की तरह मरमरी दूधिया हो गई है। उम्दा वस्त्रों ने उसके भीतर उमंग, आत्म विश्वास, दृढ़ता भर दी। उसने बार-बार वस्त्रों पर हाथ फेरा। बार-बार दर्पण में रूप निहारा। रूप निहारते देख अम्मा ने उसके केश सहला दिए—

“जींस अउर जाकिट में साहेब लग रहे हो।”

लोटन ने अपिमान से दोनों हाथ जींस की जेबों में डाल लिए, “अम्मा, मैं जींस और जाकिट में साहब लगता हूँ न।”

“हौ।”

“बाबू को पटाओ, मुझे इसकूल जाने दे। साहब बनने के लिए पढ़ना पड़ता है अम्मा।”

वात्सल्य विगलित हुई अम्मा ने बाबू से कहा, “लोटन का इसकूल में नाम लिखवाय दो।”

बाबू ने दोहरा दिया, “लोटन हमरे साथ धोबी घाट जाता है। घरन से कपड़ा लइ आबत है। दइ आबत है। तू तो अपना गोड़ लेकर बइठ गई है। एही इसकूल पठा दूँ त काम कौन करेगा तेरा बाप?”

“लोटन के बहुत मन है।”

“चार आखर पढ़ि के कोउ साहब नहीं बनय। काम-धंधा में जरूर सरम आने लगती है। अउर सुन, ददू बारह कच्छा पास है। चट्टी (चप्पल) चटकारता बाग रहा है। साहब का कोउ नौकर तक नहीं बनाता।”

ददू के विवाह के बाद जींस और जैकेट बँगले में देते हुए लोटन मायूस हुआ। जैसे अपना माल हाथ से निकला जा रहा है। बिट्टू ने उसकी मयूसी को लक्ष्य किया—

“लोटन, तूने बाबू से कहा तुझे स्कूल भेजे?”

“बाबू कहता है लोहा करना सीख। पढ़-लिख कर साहब नहीं बनेगा।”

बिट्टू ने संज्ञान दिया, “तेरी उम्र काम करने की नहीं, पढ़ने की है। टी.वी. देखता है? सरकार कहती है हर बच्चे को कम-से-कम पाँचवीं तक तो पढ़ना ही चाहिए। सरकार यह भी कहती है छोटे बच्चों से काम कराना कानूनन जुर्म है। तू बाहर मजदूरी नहीं करता पर घर में बहुत काम करता है।”

“बाबू कहता है मैं काम नहीं करता। चार बार खाता हूँ।”

उसके मासूम-मायूस अंदाज़ पर बिट्टू हँस दिया, “पढ़-लिख कर क्या बनना चाहता है?”

“साहब तो बन नहीं सकता। बिट्टू ने अभी-अभी जिस सरकार की चर्चा की, शायद वही बन जाए। बाबू भी दिनभर कहता रहता है सरकार ने महंगाई बढ़ा दी है। छाती से झाँकती पसलियाँ फुला कर बोला—

“सरकार।”

बिट्टू लहक कर हँसा, “स्टुपिड। एक अकेला आदमी सरकार नहीं बन सकता।”

लोटन ने ध्येय स्पष्ट किया, “मैं बनूँगा। बाबू कहता है सरकार ने महंगाई बढ़ा दी है। सरकार बन कर बाबू के दुःख दूर कर दूँगा। एक बस भी बाबू के लिए खरीदूँगा।”

बिट्टू ताली पीट कर हँसा, “जाइए सरकार, अपने बाबू को मेरे पापा के पास भेजिए। पापा, बाबू को समझाएँगे, लोटन सरकार बनना चाहता है, इसे स्कूल भेजो।”

“ठीक है भैया।”

लोटन की मायूसी में एक हद तक गिरावट आ गई। बाबू इस बँगले का अदब करता है। उधार लेना हो, दौड़ा आता है। लोटन से संदेश सुन बाबू बँगले गया। बाबू अपनी कातर वाणी से बिट्टू के पापा को बरगला सकता है जैसी आशंका से ग्रस्त लोटन, बाबू के पीछे लगा रहा। बाबू प्रणामी मुद्रा बना कर खड़ा था। साहब कहने लगे—

“लोटन को स्कूल भेजा करो धोबी। नहीं पढ़ेगा तो तुम्हारी तरह जिंदगी भर कपड़े प्रेस करता रहेगा।”

बाबू अकबका गया, “हमहू चाहते हैं लोटन चार आखर पढ़ ले, पै चार आखर पढ़ने से जनम न सुधरेगा। बड़ी कच्छा (कक्षा) पढ़ाने की हमारी तार (हैसियत) नहीं है। मिलन कहत रहा पढ़ायेगा पै वो

अलग हो गया। बुढ़ापे में हमारी कमर टूट गए हजूर। एक ठे सरमन है। सट्टा खेलता है। केंतनी बार पुलिस पकड़ ले गई अउर हम पइसा-दाम देकर छुड़ाए। एक ठे यहय है सहारा। काम सीख लेगा तो दुइ रोटी खाएगा, हमको भी देगा।”

बाबू की हीनता ने प्रभावित किया या साहब समझाने की औपचारिकता मात्र कर रहे थे कि जिसकी समस्या है वही निदान निकाले “पढ़ना चाहता है, संभव हो तो पढ़ा दो।”

बाबू बड़ा ज़िद्दी है। किसी के समझाने से नहीं समझता। साहब जोर देकर बार-बार समझाते तो शायद समझ जाता, पर साहब को मतलब नहीं। घर पहुँच कर लोटन खटिया में इस तरह निस्पृह होकर पड़ रहा कि बाबू समझ ले उसे बहुत बुरा लगा है। बाबू ने समझ लिया इसीलिए निकट बैठ कर दुलराने-पुचकारने लगा—

“सुन बेटा, पढ़ाने की मेरी तार नहीं है। तेरी अम्मा का गोड़ ठीक होता तो काम में मदद कर देती। तू आठ-दस दरजा पढ़ लेता। थोड़ा कायदा सीख लेता पै इसका गोड़ ठीक नहीं होगा। इलाज में इतना पैसा बूँक (फूँक) दिए। आज साम को फिर सिंकाई के लिए जाना है। सिंकाई की फ्रीस बहुत है लोटन। सरमन चार दिन से घर नहीं आया है। होता तो साइकिल पर अम्मा को ले जाता। अब रेक्सा में जाना पड़ेगा। आने-जाने का पचास रुपिया होता है...।” बाई साहब की चार साड़ी और बिट्टू बाबा की डिरेस है। पहुँचा देना। चूहा काट डारेंगे त मुसकिल होगी।”

बाबू, अम्मा को लेकर फ्रीजियोथेरेपिस्ट के यहाँ चला गया। लोटन सुना-अनसुना कर निस्पृह पड़ा रहा। देर बाद उठा। कपड़े नहीं पहुँचाएगा तो बाबू कूदने लगेगा। उसने बक्स से यूनीफ़ॉर्म और साड़ियाँ निकालीं।

यूनीफ़ॉर्म को लालच से देखने लगा। लगा यूनीफ़ॉर्म पहने के लिए प्रेरित कर रही है बल्कि पहनने के लिए प्रेरित कर रही है। अम्मा-बाबू की अनुपस्थिति से या स्वाभाविक रूप से लगा पता नहीं कब से यूनीफ़ॉर्म पहनना चाहता है। आज मौका है। यूनीफ़ॉर्म पहन कर दर्पण में देखे, बिट्टू जैसा लगता है या नहीं। नैतिकता-अनैतिकता का ख्याल भी आया। दूसरों के कपड़े पहनना भली बात नहीं लेकिन बाबू, प्रेस के लिए आए कपड़े खास अवसरों पर पहन लेता है। अम्मा तो ऐसे लटक-मटक कर साड़ी पहनती है जैसे दाम देकर खरीदी है। ठीक तो है। लोटन स्फूर्त हो गया। तत्परता से यूनीफ़ॉर्म धारण कर ली। सफ़ेद झक्क शर्ट, कॉफ़ी रंग की पतलून। टाई प्रेस के लिए नहीं दी जाती वरना बाँध लेता। साथ में लाल मोझे और सफ़ेद कपड़े के जूते पहन लिए। दर्पण के सामने खड़ा हुआ। कई कोण से खुद को जाँचा-परखा। यूनीफ़ॉर्म पहनने वाले कितने खास हो जाते हैं। लगा उन बच्चों से श्रेष्ठ हो गया है जो शाला नहीं जाते। कितना अच्छा लग रहा है। उसने तय किया स्कूल जाएगा। बाबू को सहमत करने में जोर लगा देगा। बाबू इस समय उसे यूनीफ़ॉर्म पहने हुए देख ले तो उसकी ललक को देख कर शायद कह डाले “हो गया लोटन, बहुत मन है तो स्कूल में नाम लिखा देता हूँ।”, अच्छा आइडिया है। वह यूनीफ़ॉर्म पहने हुए बाबू और अम्मा की प्रतीक्षा करने लगा। अस्पताल से लौट बाबू ने लोटन को यूनीफ़ॉर्म पहने देखा तो उसे लगा

आखिरी सहारा भी बग़ावत की राह पर है। मिलन और सरमन को बड़े होते देख बाबू खुश होता था। दो लोहा और खरीद लेगा। सब मिल कर दिन-रात काम करेंगे। लोग रईस हो गए हैं। आलसी भी। घर में लोहा नहीं करते। खूब काम मिलेगा। कमाई होगी। अब तो एक साड़ी में लोहा करने का दस रुपिया बनता है। कलफ़ सहित पंद्रह रुपिया। पर मिलन गद्दार निकला, सरमन नाकारा। लोटन बग़ावत की राह पर है... बाबू हाँफ़ कर जितनी जोर से चीख़ सकता था चीखा—

“लोटन। पागल। बिट्टू की डिरेस पहनने की तेरी औकात है?

क्रीज बिगाड़ दिया। उतार... अबहिन...।”

लोटन के दुबले पैर काँपे लेकिन कहा, “बाबू, मैं इसकूल जाऊँगा।”

अंतिम निषेध पर पहुँचे बाबू ने उसकी पीठ पर हुमक कर लात मारी “ले, जा इसकूल।”

काँप कर लोटन यूनीफ़ॉर्म उतारने लगा। हड़बड़ाहट में शर्ट हाथ से छूट गई। भूमि पर चूल्हे की राख की महीन परत बिछी थी। शर्ट में नक्काशी हो गई। बाबू को हिंसक होना ही था—

“डिरेस बँगला मा पहुँचाना था, तू पहिर लिया। बिट्टू बाबा को का बताएगा, डिरेस कइसन गंदी होय गई? इसकूल का भूत उतारता हूँ ...

बाबू की देह में वैसे तो ताकत नहीं है पर क्रोध में होता है तो चंडी चढ़ आती है। बचाव में इधर-उधर भागते लोटन को खींच-पकड़ कर मारता-कुचलता रहा। लोटन को सुरक्षा देते हुए अम्मा भी पिट गई। फिर यूनीफ़ॉर्म उठा कर सुबकती अम्मा से हाँफते-हँफरते हुए बोला—

“धो, अबहिन, लोहा करके बँगला में पहुँचाना है।”

अम्मा शर्ट लेकर धचकते हुए एक ओर चली गई। बाबू फूलते फेफड़ों में हाथ धर एक ओर धसक गया। लोटन टीसती आँतों में उठ रहे शूल को सहलाते हुए एक ओर ढह गया। साक्षरता अभियान के सरकारी आँकड़े, बाल श्रमिकों से काम न लेने की शासकीय चेतावनी, स्कूल जाने की लोटन की साध, लोटन की टीसती आँतों, अम्मा के कमजोर पैर, बाबू के फूलते फेफड़ों में दम तोड़ रही थी। □

● पाँच कविताएँ : सुधीर सक्सेना



हत्या उनके लिए ख़ब्त

जब बंदूक नहीं थी
तब भी उन्होंने लोगों को मारा
जब तलवार नहीं थी
तब भी
जब बल्लम-बछे नहीं थे
तब भी उनके हाथों मारे गए
अनगिनत लोग
जब न हाथों में धनुष था
न कंधे पर तूणीर
तब भी मारे गए उनके हाथों
असंख्य।

उन्हें मारने का ख़ब्त है
और वे रह नहीं सकते
लोगों को मारे बिना दरअसल
हत्या उनके लिए अनहोनी नहीं
बढ़ता नहीं हत्या से उनका रक्तचाप
हों, बहुत दिनों तक रक्तपात न हो
तो कथनांक के निकट पहुँच जाता है
उनकी शिराओं में बहता रक्त।

एक शब्द

उन्होंने अनगिन लोगों को मारा
उन्होंने अरण्य में आखेट किया
पुर में यूप से बाँधा
प्राचीर में खड्ग और तीर से
लेकिन उनके हाथ कभी लाल नहीं हुए

उन्होंने गोलियों से भून दिया
उन्होंने तोप के मुँह से बाँधकर उड़ाया
उन्होंने फाँसी पर लटका दिया
उन्होंने गैस-चैंबरों में झोंका
लेकिन उनके माथे पर शिकन नहीं दिखी

कभी-कभी
वे लौट जाते हैं आदिम युग में
जब हत्या एक नई-नई ईजाद थी
और उत्तर-आधुनिक युग में मारते हैं लोगों को
कूचते हैं उन्हें प्राणांत तक
अनगिन लोगों की हत्या की
उस लोमहर्षक युक्ति के लिए
तलाशने पड़ते हैं अनगिन शब्द कोश
तब कहीं शब्दावली में मिलता है
एक शब्द :
'लिचिंग'।

पोस्टमार्टम मत करो!

पोस्टमार्टम मत करो
मत करो पोस्टमार्टम, डॉक्टर

डॉक्टर को रोको, लोगों।
फूँक दो या दफ़ना दो लाश को।
एकाकी एकांत में
या शुब्ध लहरों में फेंक दो इसकी लोथ
मगर, पोस्टमार्टम मत करो तानाशाह के शव का

पोस्टमार्टम मत करो, डॉक्टर।
कि तुम हैरान रह जाओगे
कैसे विज्ञान को धता बताता
जीवित रहा यह

तुम पाओगे, डॉक्टर
कि वहाँ अनुपस्थित हैं कई जरूरी अंग
मसलन तुम पाओगे आँखों में नदारद अश्रुग्रंथियाँ,
मुमकिन है कि वहाँ अता-पता ही न हो हृदय का
और तुम डायरी में लिखो डॉक्टर
कि मृतक की धमनियों में प्रवाहित है घृणा
और शिराओं में भय
अबाध।

वे अधिक हैं; अलबत्ता...

वे अधिक हैं
उन्हें रुचते हैं वध
रहते हैं बहुधा वे वध की विधियों के
शोध में निमग्न
वध उनके लिए शोक की नहीं
उत्सव की वेला है
वे कभी अस्त्र से मारते हैं;
तो कभी शस्त्र से
और तो और
शास्त्र से भी बखूबी मारते हैं वे
लोगों को

वधों का अंतहीन क्रम है उनके महाकाव्य
अवध्य कुछ भी नहीं; सिवाय एक पशु के
कैसा आश्चर्य कि अधिक अधिक प्रतीत नहीं होते
अलबत्ता, वधियों का वध-स्थल है
हमारा समूचा भूखंड।

दो खौफ़नाक वीदे

उसने कहा
ये नदी है,
मगर नदी में प्रवाह नहीं था

उसने कहा
ये परिंदे हैं,
मगर पंखों में उड़ान नहीं थी

उसने कहा
ये दिन है,
मगर वहाँ न उजाला था, न धाम

उसने कहा
ये कर्माँ हैं,
मगर कर्माँ में तीर नहीं था,

उसने कहा
ये फूलों की ऋतु है,
मगर ऋतु में मकरंद नहीं था

उसने कहा
ये कल-कारखाने हैं,
मगर कारखानों में यंत्र नहीं थे

उसने कहा
ये राष्ट्र है,
मगर वहाँ लोकतंत्र नहीं था

...अंधेरे में चमक रहे थे
दो खौफ़नाक वीदे।

● तीन कविताएँ : उपेंद्र कुमार

नयनों की झील

तो क्या हो अगर झील नयन बन जाएँ

इतना यकीन है कि
पानी की परतों के नीचे भी बाग होंगे
वहाँ भी पद चिह्न होंगे प्रेमियों के

झील की अमर कहानी
वायु के कोमल स्पर्श से ही तो है
उसकी सतह को सहलाता, सिहराता
वही उसके तन-मन में समाता है

अपने ही रंग में रंगता है
उन लहरों की कहानियों को
छुप के चौद-सितारों में

लहरों के नीचे जो बाग है
वहाँ आनंदमग्न
वसंतोत्सव मनाकर
फैली अपनी बाँहों में
उसकी जवानी को ग्रहण कर
उसकी नीली हरी आँखों में इंतज़ार भर
हवा हो जाएगा
कथा बन जाएगा।

श्राद्ध का कौतुक

खाया है जिसने अँधेरों के श्राद्ध का भोज
शब्दों में भरा है जिसके
भविष्य और सौभाग्य का प्रबल वेग
पागल हवाओं को चीर गिरता है
विशाल जल प्रपात-सा

उसकी स्वच्छता और ताजगी में
अंतर्निहित है
जीवन संगीत और भविष्य का स्वप्न

वही, इस ढीठ, उड़ान के बीच
कौतुकी प्राण-जल बन बहता है
धोता चरण काल-पुरुष के
अदृश्य हो जाते हैं जो
दीखने से पहले ही



इस उल्लासमय जल का ही दायित्व है
धो डालना

सारा विध्वंस, सारा अतीत, सारा कूड़ा
काल-पुरुष के पथ से
उनके पग पड़ने से पहले ही

पथ जो पहुँचता है सृष्टि के कोने-कोने तक
मापता है समस्त शून्य का आयतन
समस्त आगत अनागत का रखता है हिसाब
भूत, भविष्य, वर्तमान के वक्ष-स्थलों का
आभासी भूगोल और इतिहास

यहीं से जन्मना है महान मिथकों को
मिथकीय संस्कृतियों
तथा महान सभ्यताओं को।

मोनालिसा

मेरी आँखें क्यों पीछा कर रही हैं
उन लंबे-लंबे बालों का

उसकी मुस्कान ने मुझे मोह लिया
वो आती-जाती रही



एक कविता है उसकी मुस्कान
और हर मुस्कान में मैं उसी को देखता रहा

इतनी रहस्यमय क्यों है वो
और उसके नयनों में दूर के पर्वत
चित्रावत झलकते हैं
जैसे किसी चित्रकार की रचना हो
और उसके चेहरे पर ऐसे विलक्षण हाव-भाव
उसी चित्रकार ने जोड़े हों

शायद यह हाव-भाव
उसके अपने थे ही नहीं
संभव है चित्रकार ने
किसी और प्रेमिका के चेहरे पर
देखी हो ऐसी विलक्षण अभिव्यक्ति कभी
जो उसके मनो-मस्तिष्क पर छाई रही इस
क्रंदर
न हो पाया मुक्त उससे वह जीवनभर
और अपनी प्रत्येक परिकल्पना को उतारते
समय कैनवस पर
अनायास झलक उठी विलक्षणता वही
अभिव्यक्ति की

ये तस्वीर सपनों में उभर-उभर
पुनः पुनः लौटती थी
उसमें जो अव्यक्त था
होने लगा व्यक्त वही
एक पुरानी याद की तरह
हर पल, हर सुबह, हर दिन

नई-नई मुस्कान लिए
सूर्योदय में झलकती
क्या कभी उतरती थी ये मुस्कान

एक कविता है उसकी मुस्कान
और हर मुस्कान में मैं उसी को देखता रहा। □



आने वाला दृश्य

आदमी पेड़ और कव्वे-
यह हमारी सदी का एक पुराना दृश्य रहा है
इसमें जो कुछ छूट गया है
मसलन पुरानी इमारतें, खंडहरनुमा बुर्जियाँ और
किसी के इंतजार में झाँकती टूटी हुई कोई
मेहराब
शायद अब उन पर उल्लुओं और चमगादड़ों
का कब्जा हो गया है

हाँ, तो इस दृश्य में
कव्वों ने आदमी के साथ मिलकर
पेड़ काटने की साजिश की
पेड़ लगातार कट रहे हैं और आसमान
हमसे दूर बहुत दूर होता जा रहा है

अब कव्वों ने इनसानों के साथ रहना सीख
लिया है
अब आदमी कव्वों से घिर गया है
घर में कव्वे, दफ्तरों में कव्वे
सड़कों पर कव्वे, पार्क की बेंच पर-
जिधर देखो कव्वे ही कव्वे

कैसा लगेगा जब दुनिया का कारोबार
और कुछ लोगों का बाज़ार बंद हो जाएगा
और चले जाएँगे सब लोग
मुझे यकीन है तब भी कव्वे वहाँ दिखाई देंगे

अब पेड़ के बाद
दृश्य से आदमी भी गायब हो गया है
आने वाला दृश्य सिर्फ़ और सिर्फ़ कव्वों का है
आदमी और पेड़ के बिना कव्वों का होना
कैसा लगेगा

दोस्तो! पेड़ जरूर कट चुके हैं
लेकिन हारे नहीं हैं
वे नीचे गिरते भी हैं तं एक गरिमा के साथ
लेकिन अफ़सोस आदमी...

लखौरी ईंटों से झाँकते

मेरे बचपन की धूप में
ढह गए बुर्ज की
भुरभुराती लखौरी ईंटों से झाँकते
मेरे दादा हैं

परछाइयों में दूँदते
ऊँघते हुए बैठे
पिता की शिकस्ता आवाज़
तैर आती है मुझ तक
लौ के उदास सन्नाटे में
फ़व्वकों से भरे दिन हैं
घर-कुनबे के बुर्ज और सुबकते हुए बच्चे
बहू-बेटियाँ, माँ और दादी की सूनी आँखों में
लहकते हुए पुरखों के सपने हैं
तुम्हें कुछ पता है
गुरुबत में यह भी गरीबी से लड़ने की अदा है।

डर

जब बाज़ार गया था
तो इच्छाओं का खेत था
आँखों में
लहराता हुआ सपनों का समुद्र था
बाज़ार से लौटा हूँ अब
तो घर-गृहस्थी की इच्छा
सपना बनकर सामने खड़ी है

मुझे डर है मेरे पीछे बाज़ार से लौटने वाला
मेरा पड़ोसी
सपना न बन जाए।

छोड़ो यार

उसने कहा :
सुनाओ वह कविता
कौन-सी
कहा :
वह कविता 'नौकरी'
अच्छा ; नौकरी
अभी दूँद रहा हूँ
अचानक सन्नाटे की लहर काँप उठी
फिर उसने कहा :
मिल गई नौकरी
छोड़ो यार...
कविता की बात करो!



बख्तिवार खिलजी की बीवियाँ

जरूर रही होंगी
पढ़ी-लिखी
बख्तिवार खिलजी की बीवियाँ
और उड़ाती रही होंगी
मजाक उस की निरक्षरता का
अक्सर
और क्रूर सेनापति
मन ही मन
पालता रहा होगा द्वेष
शिक्षा और ज्ञान के विरुद्ध
उनमें से किसी ने
जरूर लिखा होगा
कभी कोई प्रेम पत्र
उसके नाम और
जिसे न पढ़ पाने की
झुझलाहट ने
भर दिया होगा उसे
कुंठा से।
या फिर किसी बीवी ने
लिखी होगी
प्रेम की कोई कविता
जो कि अक्सर होती है
तानाशाही के खिलाफ
और एक दिन
भाग गई होगी
अपने आज़ाद ख़याल प्रेमी के साथ
जिसका सिर बाद में
लटका मिला होगा
किसी अँधेरे किले की
दीवार से उठें
भाले की नोक पर
और अभागी बीवी
नुचावा दी गई होगी
भूखे कुत्तों से।

पर उस की लिखी कविताएँ
गूँजती महल के दालानों में
याद दिलाती रही होंगी
तानाशाह को
कि वह है
अनपढ़,
अक्षर ज्ञान से शून्य
एक जानवर मात्र
और अज्ञान के सारे
महिमा मंडन के बावजूद
ज्ञान की श्रेष्ठता के आलोक से
चौंधिया जाती रही होंगी
उसके तमाच्छादित
मस्तिष्क के काली खोहों।

अज्ञानता की
इसी खीझ और कुंठा में
एक दिन जला डाली उसने
नालंदा की संचित,
विपुल ज्ञानराशि।
मूर्ख ने सोचा होगा
समाप्त हो जाता है ज्ञान
आग में जल कर
और कविता मर जाती है
डर कर
किसी तानाशाह से।

धूप की नदी

मैं कब से बैठा हूँ
अँधेरे के इस पहाड़ की
तलहटी में,
अभी-अभी गुजरे हैं इधर से
कुछ उड़ड़ अश्वारोही
अपनी तलवारों पर हाथ फेरते
फूहड़ और भयानक हँसी के साथ।
मगर इस बात को तो
सदियाँ हो गई।

धुएँ के कई बादल
मरने वालों की चीखों पर सवार
इसी अँधेरे के पहाड़ में दफ़न हैं।
मैं अपनी प्यास की कुदाल से
खोद रहा हूँ
बरसों से अपनी इच्छाओं की रेत
फूट पड़े हैं मेरे चारों ओर
आग बरसाती धूप के सोते।
कई पैगंबर यहीं मेरे पास ही
बैठ कर सुस्ताने के बाद
चले गए किसी अनजानी दिशा को
अपने कंधों पर अपनी सलीबें उठाए।

इसी तलहटी से
उठते रहे हैं कई इक़लाब
और रक्त की नदी पार करने के बाद
गुम हो गए हैं ध्वंस के बाँझ रेगिस्तानों में
उनके पीछे उग आए हैं
कुछ नये तानाशाह
कंकटस की तरह।

इसी घाटी में रोशनी की किताबें
जल रही हैं धू-धू कर
और उनके जहरीले धुएँ के नशे में मस्त
मेरी तमाम पीढ़ियाँ
जप रही हैं मंत्र
एक अनबूझी भाषा का
किसी गुंगे-बहरे अदृश्य की
प्रार्थना में।
इसी पहाड़ के सामने वाली दलदल में
डूब कर मर गए हैं

बाई और दाई ओर से आने वाले
सत्य के तमाम अन्वेषक
जिन्होंने दावा किया था
सूरज का एक टुकड़ा तोड़ लाने का।

सब तरफ़ एक मरघट
उग आया है
सारे पैगंबरों और
सत्य के अन्वेषकों को फूँकने के बाद
सारी पवित्र किताबें सड़ चुकी हैं
रक्त में डूब कर
सूरज कब का
उजाले को सँभाले-सँभाले अपने कंधों पर
धूप की नदी सा बहने लगा है
अँधेरे की तलहटी में
अभी भी गूँज रही हैं
आदमखोर अश्वारोहियों के
आने की आहट।

प्रसन्नता

बधिक
तेज़ कर रहा है
फ़रसे की धार
ज़ोर-ज़ोर से पढ़ता
बलि-मंत्र
और
बकरे उछल रहे हैं
देख कर हरी घास।

सामान्य ज्ञान

मेमने खुश हैं कि
भेड़िए ने
दिया है उन्हें
आश्वासन
उनकी रक्षा का।
वे नहीं जानते
कि
भेड़िया
नहीं रह सकता
जीवित
बिना उनका
खून पिए
पर
भेड़िया जानता है
कि नहीं आता
गिनती करना
मेमनों को।

जनक्रांति का बिगुल फूँकता कवि

नीरज कुमार मिश्र

प्रगतिशील हिन्दी कविता ने ना केवल शोषित और उत्पीड़ित जन को विषय बनाया, बल्कि ग्रामीण परिवेश, प्रकृति और जन संस्कृति को भी विषय बनाकर शोषण तंत्र के खिलाफ आवाज बुलंद की। इसीलिए प्रगतिशील कविता में जन और घन एक साथ गरजते दिखते हैं। प्रगतिशील हिन्दी कविता के तीन प्रमुख कवियों त्रिलोचन, नागार्जुन और केदारनाथ अग्रवाल ने अपनी कविताओं में ग्रामीण प्रकृति और वहाँ के जन-सरोकारों को मुख्य विषय बनाया है। केदारनाथ अग्रवाल का जन्म भले ही विशुद्ध रूप से किसान परिवार में ना हुआ हो, लेकिन प्रेमचंद की तरह ये भी गाँव की मिट्टी, वहाँ की प्रकृति, वहाँ की संस्कृति के साथ गहरे से जुड़े रहे। इन्होंने श्रमिक और सर्वहारा वर्ग की चेतना को बेहद तीखे और समन्वित ढंग से प्रकृति से जोड़ दिया है। प्रकृति के इस गठजोड़ से उपजी इन कविताओं ने जन सरोकारों से जुड़कर, शोषण के खिलाफ क्रांति का बिगुल फूँकने का काम किया है। डॉ. रामविलास शर्मा इसी परिप्रेक्ष्य को जोड़ते हुए कहते हैं कि “केदार की मूल चेतना मूलतः किसान की चेतना है....केदार की कविता कथाकार प्रेमचंद की विरासत का अन्य विधा में क्रांतिकारी विकास है, प्रेमचंद, निराला, नागार्जुन इन्हें बे-जमीन किसानों और खेत-मजदूरों से गहरी सहानुभूति है।”

केदार बाबू की कविताओं में मुख्य रूप से तीन तरह की काव्य प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं-राजनैतिक विषयक काव्य, प्रकृति प्रेम से संबंधित काव्य और सामाजिक सरोकारों से जुड़ा काव्य। यदि हम यहाँ इनके प्रकृति चित्रण से संबंधित कविताओं की बात करें, तो भले ही केदार बाबू को छायावादोत्तर कविता का सुमित्रानंदन पंत कहा जाता हो, लेकिन इनके प्रकृति विषयक चिंतन सुमित्रानंदन पंत से बहुत भिन्न हैं। एक तरफ पंत के यहाँ प्रकृति, कोमल कल्पनाओं के आकाश में उड़ती इंद्रजाल सी छवि बनाती है, तो दूसरी तरफ केदार के यहाँ प्रकृति अपने बुंदेलखंडी ठाठ के साथ बहुत सहज और आत्मीयता के साथ आमजन के पक्ष में खड़ी नजर आती है। यही वजह है कि इनकी कविताओं में आए किसान-मजदूर, यहाँ तक कि प्रकृति के पेड़-पौधे, फसलें, बसंती हवाई, संतोषी चिड़िया, केन नदी आदि सभी क्रांति के अग्रदूत बनकर सामने आते हैं। इनकी कविताओं में आई प्रकृति अन्य कवियों से अलग वैचारिक धरातल में पाँव जमाए है। आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी ने केदार बाबू की कविताओं में आए प्रकृति और मनुष्य के इसी संबंध को व्याख्यायित किया है- “केदारनाथ अग्रवाल बुंदेलखंड की प्रकृति, वहाँ के जनजीवन से ही नहीं, वहाँ के लोक गान, वहाँ की लय, वहाँ की भाषा और तान से जुड़े हैं। उनकी रचना-धर्मिता में बुंदेलखंड अपनी समग्रता में रचा-बसा है। यह सारा रचाव-बसाव कवि के हृदय में है और अभिव्यक्ति में भी।”

कवि पंत ने पेड़-पौधों पर अनेक कविताएँ लिखी हैं। उन्हें रूप, रंग और कल्पना के माध्यम से दूसरे तरह के बिंब-विधान में गढ़ा है- “पीले मीठे अमरुदों में / अब लाल लाल चित्तियाँ पड़ीं / पक गए सुनहरे मधुर बेर / अँवली से तरुण डाल जड़ी।” पंत की कविताओं में आया प्रकृति सौंदर्य आप को भाव विभोर तो कर देगा, लेकिन क्रांति की मशाल लेकर वहाँ कोई खड़ा नजर नहीं आएगा। केदार बाबू के यहाँ ये पेड़-पौधे अपनी इच्छाशक्ति और अदम्य साहस के बल पर कठिन से कठिन समय से लड़ने के लिए क्रांति की मशाल लिए तैयार हैं- “उन्नत पेड़ पलाश के, ढाल लिए रण में खड़े / सम्मुख लड़ते सूर्य से बौह बली ऊपर किए / दुर्दिन में रहकर हरे, छाँह घनी धू पर किए।” ऐसे पेड़ केदार बाबू के यहाँ ही आ सकते हैं, जो खुद सूर्य से लड़ते हुए आमजन की रक्षा ही नहीं करते हैं, बल्कि उन आमजन के अंदर बुझी क्रांति की आग को फिर जलाने के लिए हर कष्ट उठाने को तैयार हैं- “आग लेने गया है / पेड़ का हाथ आदमी के लिए।” जिस तरह निराला के लिए बादल ‘विप्लव के वीर’ बनकर आते हैं, उसी तरह केदार बाबू के यहाँ ये पेड़ आमजन की पक्षधरता के प्रतीक बनकर। केदार बाबू के प्रकृति चित्रण में कहीं भी आपको निराशा और हताशा नहीं दिखाई देगी। यही वजह कि इन्होंने अपनी कविता में संध्या के सूरज को नहीं बल्कि प्रातः उगते सूरज को ज्यादा महत्त्व दिया है। उगता हुआ सूरज उम्मीद, उद्दाम जीवन-शक्ति, त्याग, श्रम और तपस्या का प्रतीक बनकर इनकी ‘धूप



धरा पर उतरी', 'धीरे-धीरे पाँव धरा पर धरती किरनें', 'खिला है अग्नि प्रकाश', 'आग नाव में भरकर सूरज', 'जीत के जुलूम की इमरजेंसी', 'शाम का सूरज नहीं है' जैसी अनेक कविताओं में आता है- "शाम का सूरज नहीं-प्रातः का है / चीर प्राची का कलेजा उठ रहा है / रात का भीगा धरातल आँसुओं से / चूमकर किरनें सुनहरी हँस रहा है।" केदारनाथ बाबू ने ऐसा ही जीवन जिया है। वह लगातार लोगों को यही शिक्षा देते रहे कि सच्चा मनुष्य वही है, जो दूसरों का दुख अपने दुख में मिला सके।

प्रकृति के माध्यम से बुंदेलखंड की किसान चेतना और वहाँ की जन संस्कृति को केदार बाबू ने जिस आत्मीयता के साथ चित्रित किया है। उससे उनकी कविता अपने समय से जुझते हुए किसान और मजदूर की आवाज़ बनकर उनके संघर्ष में कंधे से कंधा मिलाकर चलती नजर आती है। केदार बाबू की कविताएँ किसान जीवन का ऐसा वास्तविक चित्र खींचती हैं कि किसान जीवन के मानवीय सरोकार और उनके हर्ष-उल्लास, खेतों में पसीने की बूंद के रूप में गिरकर क्रांति के बीज बोते हैं- "हल चलते हैं फिर खेतों में / फटती है फिर काली मिट्टी / बोते हैं फिर बिया किसान / कल के जीवन के वरदान / फिर उपजेगा उन्नत-मस्तक सिंह अयाली नाज़ / फिर गरजेगी कष्ट विदारक धरती की आवाज़।" इन बीजों से किसान अपनी क्रांति की ऐसी फौज तैयार करते हैं, जिनकी शक्ति उनका श्रम है- "लाखों की अगणित संख्या में / ऊँचा गेहूँ डटा खड़ा है / ताकत की मुट्ठी बाँधे है / नोकीले भाले ताने है / हिम्मतवाली लाल फौज़ सा / मर मिटने को झूम रहा है।" कोई भी लालच, विलासिता या आकर्षण इन्हें अपने पथ से डिगा नहीं पाती- "फागुन की मस्ती के झाँके / दौड़ जाते हैं उड़ उड़ के / अंगों में, बाहों में कसके / उसकी गति को मंद बनाने / और धूप की गरम गोद में / वैभव की चितवन के नीचे / मीठी मीठी नींद सुला के / उसका दृढ़ अस्तित्व मिटाने / लेकिन गेहूँ नहीं हारता / नहीं प्रेम से विचलित होता / हंसिया से आहत होता है / तन की मन की बलि देता है / पौरुष का परिचय देता है / सतत घोर संकट सहता है / अंतिम बलिदानों से अपने / सबल किसानों को करता है।" ताकत से भरे, मर मिटने को तैयार इस हिम्मती गेहूँ को केदार बाबू बुंदेलखंड के हर खेत में बो देना चाहते हैं, 'गेहूँ की मुट्ठी बाँधे मैं खेतों-खेतों छा जाऊँगा।' किसान की इस फौज में अकेला गेहूँ ही नहीं है बल्कि एक बीते के बराबर, वह हरा चना भी है, जो बाँधे मुरैठा शीश पर, छोटे गुलाबी फूल का, सज कर खड़ा है। साथ में क्रांति का माहौल बनाए हुए 'दहका खड़ा है सेमल का पूरनिया पेड़' भी है- "दहका खड़ा है / सेमल का पूरनिया पेड़ / टपाटप टपकाता जमीन पर / लाल लाल फूली आग।" समाज का ऐसा कोई वर्ग नहीं है, जो इस क्रांति की मशाल को उठाए हुए किसानों की इस फौज में शामिल नहीं होना चाहता। इनकी कविता में आया धतूरे का पेड़, उस दलित वर्ग का प्रतीक है, जिसको हमेशा समाज में उपेक्षित रखा गया। लेकिन यह दलित वर्ग अपनी पूरी निष्ठा के साथ इस फौज में शामिल होने के लिए तत्परता के साथ खड़ा है- "बिना बजाए ही / बजाते से खड़े हैं / मैदान के एक कोने में / धतूरे के पेड़ / मुँह से लगाए तुरही /... ना बजी इनके बजाए इनकी तुरही / फिर भी खड़े हैं तो खड़े हैं / उसी जगह उसी तरह / प्रकृति के आदेशानुसार / मुँह से लगाए हुए तुरही।" कमजोर से कमजोर वर्ग संघर्ष के लिए तैयार होती फौज में अपनी उपस्थिति दर्ज कराना चाहता है, तभी हरी घास बल्लम की तरह सजग प्रहरी बनकर खड़ी है। अब ऐसे में हठीली अलसी जैसी स्त्रियाँ कैसे पीछे रहतीं, वे भी इस फौज में अपने हठ के बलपर शामिल होना चाहती हैं। केदार बाबू के ये क्रांति-दूत श्रम की ताकत से बुंदेलखंड के हर खेत को अमरता प्रदान

करते हैं। तभी कवि बार-बार कहता है कि- "हम न रहेंगे तब भी तो ये खेत रहेंगे / इन खेतों पर घन लहराते शेष रहेंगे / जीवन देते प्यास बुझाते माटी को मदमस्त बनाते / श्याम बदरिया के लहराते केश रहेंगे।" केदारनाथ अग्रवाल की कविताएँ गाँव, वहाँ के खेत में तन कर खड़ी फसल और उन खेतों में श्रमरत किसान का अलग ही लोक रचती हैं। इसी लोक की ओर डॉ. लल्लन राय इशारा करते हैं- "धरती का ये किसानों रूप, प्रकृति की यह किसानी छवि पहली बार एक कविता में इतनी समग्रता के साथ उद्घाटित हुई है। फसलों का ऐसा मनोहारी रूप, पूरी काव्यात्मक संवेदना और सहज, किन्तु उन्नत शिल्प के साथ पहली बार केदार की ही कविता में अपनी पूरी गरिमा के साथ साकार हुआ है।"

केन से केदार बाबू को बहुत लगाव था। केन उनके तन मन में रची-बसी थी। केन उनके मन की नदी थी। तभी वह अपने मन की बात उससे कहते हैं कि ये- "मेरे मन की नदी / सदी के वृहत सूर्य से चमक रही है / मेरे पौरुष का यह पानी दृढ़ पहाड़ से टकराता है।" केदार बाबू के यहाँ केन का चित्रण यथास्थिति से संघर्ष का चित्रण है। केन अपने संघर्ष और श्रम के बल पर साम्राज्यावादी अमानवीय शक्तियों से लगातार टकराती है- "तेजधार का कर्मठ पानी / चट्टानों के ऊपर चढ़कर / मार रहा है, घूँसे कसकर / तोड़ रहा है तट चट्टानी।" यहाँ केन ऐसे सर्वहारा वर्ग का प्रतीक है जो श्रम की थकान और प्यास के बावजूद धूप पी कर भी सीना खोले लेता है- "धूप पिए पानी लेता है सीना खोले / नौजवान बेटा है युग के श्रमजीवी का।" ये बुंदेलखंडी तेवर केदार बाबू की पूरी कविताओं में आपको देखने को मिलेगा। केन के जितने विविध रूप आपको इनकी कविताओं में मिल जायेंगे और कवि में शायद ही किसी नदी के इतने विविध रूप देखने को मिलें। नदी के हर भाव को केदार बाबू पहचानते ही नहीं बल्कि महसूस भी करते थे। जब वह केन को उदास देखते तो खुद उदास होकर दबे पाँव घर वापस आ जाते। लेकिन जब नदी उत्साह में होती तो उसके उत्साह को नदी किनारे पत्थी मारे केवल देखते ही नहीं थे, बल्कि उससे भेंट भी करते थे- "न भूलेगी मुझे नितंबिनी स्रोतस्विनी / जलधारा से भरी नदी / जिसने मुझे भेंटा, मैंने जिसे भेंटा।" केदार बाबू ने मनुष्य के साथ प्रकृति को मानवीय संवेदनाओं से जोड़ा है। खगेंद्र ठाकुर ने इनकी इसी विशेषता पर विचार किया है कि "केदारनाथ अग्रवाल प्रकृति का चित्रण नये मनुष्य के रूप में विविध प्रकार से करते हैं। केदार प्रकृति के विविध रूपों पर मानवीय चेष्टाओं का आरोप करके मनुष्य और प्रकृति की आत्मीयता निर्मित करते हैं।"

केदारनाथ अग्रवाल ऐसे युग में अनास्था पर आस्था का शिलालेख थे जहाँ शोषण अपने चरम में था। वह अपनी कविताओं में प्रकृति के ऐसे-ऐसे बिंब गढ़ते हैं कि पूरी प्रकृति फोटोजेनिक होकर हमारी स्मृति में बस जाती है। उन्होंने शोषण, उत्पीड़न और गरीबी के खिलाफ पैदा हुए आक्रोश को नये तेवर के साथ प्रकृति के माध्यम से व्यक्त कर सामाजिकता को प्रतिष्ठित किया है। केदार बाबू जीवन के रस का छककर पान करने वाले कवि हैं। इसी वजह से मानव जीवन का प्रकृति से अनोखा संबंध इनकी कविताओं में दिखता है। ऐसे संबंध स्थापित करने में जीवन अनुभव से बने चिंतन का महत्वपूर्ण योगदान होता है। इस चिंतन की वजह से केदार बाबू का प्रकृति चित्रण लोकहित में परिवर्तित हो जाता है। प्रकृति के माध्यम से जनक्रांति का बिगुल फूँकने वाले कवि केदारनाथ अग्रवाल धुन के पक्के थे। उनकी स्मृति को नमन करते हुए ये पंक्तियाँ याद आ रही हैं: "हर साज से होती नहीं ये धुन पैदा / होता है बड़े जतन से ये गुन पैदा।" □

गत्यात्मक आधुनिकता और यथार्थपरकता के मूर्तिकार

अवधेश अमन

लगभग दो दशक से भारतीय मूर्तिकला में कुछ नई प्रवृत्तियाँ उभरकर सामने आई हैं। पहली बात तो यह हुई है कि मिट्टी, प्लास्टर ऑफ पेरिस, सीमेंट कंक्रीट, लोहे, पत्थर, काँस्य और लकड़ी जैसे परंपरागत माध्यमों की जगह रेशा काँच, स्टेनलेस स्टील, शीशा, सोना, चाँदी आदि के व्यवहार कुछ तेज हुए हैं। साथ ही कहीं इनके संस्थापन में कृत्रिम रोशनी के प्रयोग भी हुए हैं। मगर आमतौर पर कृति के साथ रोशनी को देखकर लगता है कि ज्यादातर इनमें रोशनी के अनर्गल प्रयोग ही हैं। इसलिए कि मूर्तिकला जैसी त्रिभंगी कला में देखने की दृष्टि और इसके अनुभव अपनी आंतरिक गति में ही अर्थवान हैं। इसमें अधिक विचलन कहीं से भी दृष्टिगम्य नहीं लगता। बहरहाल हम जिस मूर्तिकार की कला पर दृष्टि डाल रहे हैं, इनमें कुछ खास है। ये हमें कहीं गहरे प्रभावित भी करते हैं। इन दिनों अरुण पंडित एक चर्चित नाम हैं। भारतीय कला जगत में लगभग दो दशक से लगातार अरुण पंडित की कृतियाँ देखी जा रही हैं। इनकी कला में आधुनिकता और यथार्थपरकता का एक समग्र प्रभाव है, जो हमें एक दृष्टि में अपनी ओर खींच लेता है, इसलिए कि इनमें जीवन की कुछ सूक्ष्म संवेदनाएँ हैं। एक मनुष्य जो मुझोटे बेचता है, एक आम आदमी जो अखबार पढ़ता है, एक युगल जो एक मध्यमवर्गीय जीवन की संवेदना जो रहा होता है। अखबार पढ़ते हुए किसी आदमी के कई चेहरे हो जाते हैं अलग-अलग मनोभावों के, एक दुधूभी वादक जो शांत भाव से खड़ा होता है, एक मनुष्य जो उड़ने की परिकल्पना करता है, एक स्त्री जिसकी परिकल्पना में उसके दस हाथ होते हैं और एक माँ जो अपने युवा बेटे के लिए भी वात्सल्य से भरी होती है— ये सब बहुत मजबूत अंतर्संवेदनाएँ हैं अरुण पंडित की कला में। इन्होंने ज्यादातर काँस्य शिल्पों की रचना की है जो प्रायः तीन फीट से सात फीट तक ऊँची हैं और कुछ इससे भी बड़ी। इनके निर्माण में और इन्हें ढालने में इन्होंने इटैलियन तकनीक का सहारा लिया है। शिल्प के एक बड़े आवरणनुमा भाग को खुरदरा और चेहरे सहित अन्य कुछ महत्वपूर्ण भाग को धिकना करके परिमार्जित कर एक अनूठे प्रभाव का सृजन होता है इनकी कृतियों में, जो दृष्टिसापेक्ष कहीं घनात्मक भी होता है। एक प्रकार का घनवाद हम इनके शिल्प में भी देख सकते हैं। संप्रति ललित कला अकादमी, नई दिल्ली ने गद्दी स्थित पूर्व कैलाश कॉलोनी में इन्हें स्टूडियो की सुविधा प्रदान की है। यहाँ ये नियमित अपनी कार्यशाला में होते हैं और रोज़ कुछ नये चिंतन के साथ पहले आरेखन करते हैं फिर सृजन और निर्माण की प्रक्रिया शुरू करते हैं। मिट्टी को गीला करके तैयार करना और फिर पहले मिट्टी से ही अपेक्षित शिल्प की रचना करना। यह अनुभव इनको लड़कपन से ही है। मगर अब सृजन की अपेक्षा का एक उत्कर्ष है इनमें। इसके बाद क्रमशः सौँचा तैयार करना और फिर उसे ढालने की प्रक्रिया तय करने का अब एक लंबा तजुबा है इन्हें। इन्होंने रेशा काँच में भी सैकड़ों मूर्तिशिल्पों की रचना की है। पत्थर में, लकड़ी में और लोहे में भी इन्होंने शिल्प की रचना की है, मगर इनका सबसे प्रिय माध्यम काँस्य शिल्प ही है।

अरुण प्रायः अपनी कला में यथार्थपरक आधुनिकता के पक्षधर हैं, अमूर्तन की भाषा इन्हें नहीं रुचती। एक और महत्वपूर्ण बात है कि स्थूल नहीं हैं इनकी कृतियाँ। इनकी कृतियों में एक प्रभावशाली दृश्य-संवेदना है जो हमें सीधे प्रभावित करती है। इनके दृश्य रूप में एक गति है, एक बहाव है, एक मर्म है जो हमें स्पर्श करते हैं। अरुण का कहना है कि अब वो समय नहीं है कि हम किसी पत्थर को तराशकर उसे महत्ता का आकार दे दें। बौद्धिक क्षेत्र में अब बहुत कुछ देखा और परखा जा रहा है, चाहे वह कला का कोई भी क्षेत्र हो।



अरुण पंडित



47 वर्षीय अरुण बिहार की एक निम्न-मध्यवर्गीय पारिवारिक पृष्ठभूमि से आते हैं तथा अपने परिवार की परंपराओं में भी इन्होंने मिट्टी के मूर्तिशिल्प को देखा है। मूर्तिकला की स्नातक स्तर की शिक्षा पटना विश्वविद्यालय से प्राप्त करने के बाद इन्होंने दिल्ली का रुख किया और दिल्ली में इनकी रचनात्मक क्रियाशीलता शुरू हो गई और 2010 में इन्हें राष्ट्रीय पुरस्कार भी प्राप्त हुआ। इससे पूर्व 2007 में इन्हें आइफेक्स अवार्ड प्राप्त हुआ था। साथ ही विगत दो दशकों में इन्हें अनेक पुरस्कार प्राप्त हुए हैं। दिल्ली और मुंबई में एकल प्रदर्शनियों की हैं। लब्धप्रतिष्ठ कला समालोचक ने इनके कैटलॉग लिखे और इनकी प्रदर्शनी क्यूरेट किया है। देश और दुनिया की अनेकों समूह प्रदर्शनियों में प्रदर्शित इनकी कला की एक अलग ही भाषा है, जिसने इनकी समर्थ पहचान कराई है। इनकी कृतियों ने इन्हें एक बड़ी पहचान दी है। खासकर आज की मूर्तिकला में इनकी कलाकृतियों में एक ऊर्जा और एक शक्ति भी होती है, जो मूर्तिकार के मजबूत हाथों और कोमल मन से गढ़ी जाती है।

आधुनिक भारतीय मूर्तिकला में विगत चार दशकों में जो कृतियाँ आमतौर पर रची गईं, उनमें ज्यादातर स्थूलता थी। एक जड़-जीवन था उनमें। किसी पत्थर को काटकर, तराशकर या घिसकर एक आकार उगा देना या और कुछ उपक्रम करके कोई नाटकीय प्रभाव पैदा कर देना—ज्यादातर यही होता रहा है उस दौर में। चित्रकला में तो किसी फलक पर, कैनवास या कागज पर जो दृश्य संरचनाएँ उभरती रहीं, उनमें एक कथ्य था; उनमें दृश्य या रूपों का एक प्रखर संवाद था जो आज भी बरकरार है। मगर मूर्तिकला की रचना में विगत चार दशक के दौर में हम ज्यादातर उनके किसी प्रभावकारी संवाद से साक्ष्य नहीं करते। हाँ, कहीं-कहीं कुछ वैचारिक अनुभव जरूर करते हैं। इसलिए मुझे लगता है कि इस सत्य को अरुण पंडित ने जाना और इन्होंने वह रचा, जो इनके दिल ने कहा।

अरुण की कृति 'मुखौटे बेचने वाला' में तरह-तरह के मुखौटे समाज के अनेक वर्गों और प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। स्वयं बेचने वाले का चेहरा आधा ढँका है। सात फ्रीट तीन इंच ऊँची यह कौंस्य प्रतिमा हमसे सीधा संवाद करती है। कौंस्य में ही एक अन्य कृति 'उड़ने वाला आदमी' पाँच फ्रीट ऊँची है। इस आदमी का एक पाँव जमीन पर और एक हवा में है तथा उसके फैले हुए हाथों में पाँच-पाँच हथेलियाँ उग आई हैं उड़ने के लिए। कौंस्य में ही इनका जो दुंदुभी वादक है, इसके तीन चेहरे उग आए हैं और उनमें कोई उत्तेजना नहीं, एक शांत भाव है। अपना चेहरा ढके एक स्त्री, जिसके दस हाथ हैं, जो शायद किसी सेवा के हाथ हैं मदर टेरेसा की तरह। कौंस्य कृति 'माँ' इस अर्थ में प्रभावशाली है कि वह अपने तीन युवा बेटों के लिए वात्सल्य रस से परिपूर्ण है। इन तमाम कृतियों की अपनी



कौंस्य कृति 'मुखौटे बेचने वाला'



एक रेशा काँच कृति

काँच में। मगर मेरी दृष्टि में इनकी कौंस्य कृतियाँ अधिक प्रभावित करने वाली हैं।

एक कौंस्य कृति 'द न्यूज' देखकर सहसा लगता है कि यह एक कालातीत कला है। एक बेंच पर बैठे युगल में से स्त्री का आधा चेहरा ढँका है और पुरुष अखबार पढ़ रहा है। इस कृति में पुरुष के चार चेहरों के भाव हैं। उसके हाथ और पाँव भी समाचार संवाद की गंभीरता को प्रकट करते हैं। कौंस्य के ये शिल्प अपने गहन रंगों की वजह से भी एक दुर्लभ प्रभाव रचते हैं। इनकी कृतियों में हाथ या पाँव की कई-कई उंगलियाँ, कई-कई चेहरे इस तरह रचे गए हैं जो सृजन की परकाष्ठा पर ही संभव होते हैं। इनकी एक कौंस्य कृति 'इलेक्ट्रॉनिक एज का सिर' सिर के विविध हिस्सों की एक ऐसी संरचना है, जो



कौंस्य कृति 'द न्यूज'

कोई सॉफ्टवेयर प्रोग्रामर भी नहीं तय कर सकता, इसलिए यह दुर्लभ है। इसमें एक वैश्विक अभिव्यक्तिवाद भी है। अरुण ने कैनवास पर एक्रिलिक रंगों से या कभी मिश्रित रंगों से भी जो चित्रांकन किया है, वह भी 'एरर 404' की ही एक शृंखला है प्रायः और यह भी अपने एक अद्वितीय प्रभाव में है। अरुण के 2015 के एक विशेष मूर्तिशिल्प 'गरुड़' का उल्लेख भी यहाँ आवश्यक है। तिरुपति स्थित विमानपत्तन पर इस कृति का अनावरण प्रधानमंत्रीजी ने किया था। विशाल गरुड़ पक्षी भगवान विष्णु की सवारी रही है। वेदों में इसकी व्याख्या है। तिरुपति में विष्णु के ही एक अभिन्न रूप भगवान वेंकटेश्वर हैं। यहाँ के गरुड़ की परिकल्पना अरुण की अपनी चिरपरिचित शैली में ही है। गरुड़ एक पक्षी ही है, मगर यहाँ शिल्प में इसका सिर एक तेज भावक या उड़न-मनुष्य का है तथा जिसके बारह हाथ हवा में लहर रहे हैं और जो बहुत ऊँची उड़ान की शक्ति से ऊर्जस्वित है। ऐसी कुछ और भी कृतियाँ स्थापित हैं देश में अरुण पंडित की। महत्वपूर्ण यह है कि ये निरंतर सृजनशील हैं और आधुनिक भारतीय मूर्तिकला को समृद्ध करने में अपना उल्लेखनीय योगदान दे रहे हैं। □



कौंस्य कृति 'दुंदुभी वादक'

दुःख सहेजता है

हिन्दी के साहित्यिक-सांस्कृतिक पटल पर गंगा प्रसाद विमल की सक्रिय उपस्थिति जीवनपर्यंत बनी रही। 'अपने से अलग', 'कहीं कुछ और', 'मृगांतक' और अभी हाल ही में इसी कड़ी में एक और उपन्यास 'मानुष खोर' लिखा है। 'मृगांतक' उपन्यास पर फिल्म बन चुकी है। उन्होंने कहानियाँ लिखी हैं, कविताएँ लिखी हैं। साथ ही कई आलोचना की पुस्तकें भी, जिन्हें देखते-पढ़ते उनके साहित्यिक सरोकारों से पाठक रूबरू होता है। केंद्रीय हिन्दी निदेशालय के निदेशक का पद संभाल चुके डॉ. विमल जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से प्रोफेसर पद से सेवानिवृत्त हुए। श्रीलंका में एक दुःखद सड़क दुर्घटना से पूर्व मनोज मोहन ने यह संक्षिप्त बातचीत विमलजी के जन्मदिन पर की थी—

प्रश्न : इन दिनों क्या पढ़ना हुआ?

उत्तर : इन दिनों बहुत-सी चीजें पढ़ने में आई हैं। खासकर वरिष्ठ लेखकों में मुद्राराक्षस के उपन्यास 'अर्द्धवृत्त' पढ़ा। शैली रूप आख्यानोत्कृष्ट है। प्रथम पुरुष की शैली में उपन्यास का आरंभ होता है और भारतीय जाति-व्यवस्था के विविध रूप बहुत सुलझे हुए लेखक हैं और विशेष सजगता उनके लेखन में बीसवीं शताब्दी के इतिहास विभाजित करती है—स्वतंत्रता पूर्व खाने में। जातीय दंश कैसा विष मिलते हैं। एक उदाहरण—समाज का एक नैसर्गिक पक्ष है जिसमें मुस्लिम परिवार एक ऐसे पक्ष की यह बलात् या पक्षधरता के कारण नैसर्गिक रूप से होता है। इससे समाज वृहत्तर रूप से एक है कि उसके टूटने की आशंका का यह उपन्यास रोचक और है। इसे पढ़ने के लिए भारतीय से परिचित होना बहुत जरूरी है। उपेक्षा का शिकार हो सकता है। के शिकार अनेक उपन्यास हैं। कटारे, अदीब के उपन्यासों के आए हैं।



उसमें मिलते हैं। मुद्राराक्षस चूंकि वामपंथी रुझान के होने के कारण झलकती है। 'अर्द्धवृत्त' की कथा को मोटे-तौर पर दो हिस्सों में और स्वतंत्रता के बाद के निश्चित फैलाता है, इसके बहुत सारे चित्र के सबसे निचले तबक़े की सुरक्षा बिना कोई धार्मिक पक्षधरता लिए रक्षा करते हैं जो मुस्लिम नहीं हैं। नहीं है बल्कि यह सब कुछ सूत्र मिलते हैं कि हमारा भारतीय किंतु इतना नाजुक या महीन है हमेशा बनी रहती है। मुद्राराक्षस भुलाऊ उपन्यासों की तरह नहीं जातीय व्यवस्था की महीन परतों अन्यथा एक महत्वपूर्ण उपन्यास हिन्दी के प्रबुद्ध जनों की उपेक्षा उपन्यासों के इस क्रम में महेश साथ अन्य उपन्यास भी पढ़ने में



आप खुद कवि हैं, इधर की कविताओं पर आपके विचार जानना जरूरी है।

इन्हीं दिनों मेरे हाथ कुछ नये लोगों के कविता-संग्रह भी लगे हैं। पिछले दिनों जो कविताएँ पढ़ीं उनमें रजनी अनुरागी, रेणु पंत, सुधा उपाध्याय, स्वाति नेलकानी, ज्योति चावला, नीलम मेहदीरत्ता गुप्ता, रेखा चमोली के संग्रह शामिल हैं। संयोगवश ये सारे-के-सारे संग्रह महिलाओं के हैं। इनसे नये महिला लेखन की जो तस्वीर उभरती है, उसे लेकर यह तो कहना पड़ेगा कि स्त्री के सरोकारों की दुनिया उनकी निजी दुनिया से जुड़कर एक प्रकार का प्रमाण भरा सुकून देती हैं परंतु यह निजता पहली पीढ़ी के सीमित अनुभवों से भिन्न है। इसलिए कह सकते हैं कि इन युवा हस्ताक्षरों की बिसात के मोहरे घर-परिवार से निकालकर राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर

पृष्ठ 35 पर जारी...

पंजाबी ओपेरा का पर्याय : शीला भाटिया

प्रताप सहगल

शीला भाटिया को याद करना उन सुनहरे दिनों को याद करना है, जब पंजाबी ओपेरा अपने उरूज पर था। दुःखद भी है कि पंजाबी ओपेरा ने शीला भाटिया के साथ जन्म लिया और उनके थियेटर के परिदृश्य से बाहर होने के बाद उनके साथ ही मर गया। शीला भाटिया को याद करने का अर्थ यह भी है कि शायद पंजाबी ओपेरा फिर दृश्यमान हो जाए, शायद उसके कुछ नये मायने हमारे सामने खुलें, शायद किन्हीं गुम आवाजों को मंच मिले। शीला भाटिया को याद करने का अर्थ उनकी चिंताओं के बारे में भी चिंतित होना है।

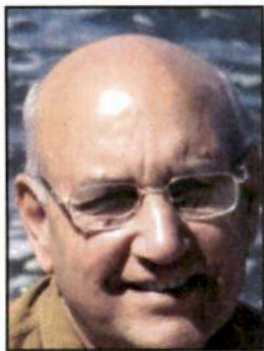
शीला भाटिया से मिलने का अवसर तो कभी नहीं मिला, लेकिन उनका काम जरूर देखा है। सियालकोट में मार्च 1916 को पैदा हुई शीला की सृजनात्मक यात्रा 1951 से कश्मीर में 'कॉल आफ़ दि वैली' से शुरू होती है और पूरी सदी तक वह किसी-न-किसी रूप में चर्चा में बनी रहती हैं। 2008 में उनकी मृत्यु के साथ ही जैसे पंजाबी ओपेरा की भी मृत्यु हो गई। उनकी सहयोगी मदनबाला सिंधु ने जरूर कुछ प्रस्तुतियाँ करके इसे जीवित रखने की कोशिश की लेकिन अब वो न रहे कहने वाले, अब वो न रहे सुनने वाले। सुनने वाले तो मिल भी जाएँ लेकिन ओपेरा में इस्तेमाल करने लायक बुलंद आवाजें कहाँ से आएँगी! ऐसी आवाजें हमें जागरणों या कभी-कभी फ़िल्मों में सुनाई दे जाती हैं लेकिन हिन्दी, पंजाबी, उर्दू रंगमंच आज इस तरह की आवाजों से महरूम है। कितनी अफ़सोसनाक बात है कि हम अपनी विरासत को सँभाल कर रखने के मामले में इतने क्राहिल हैं। शीला भाटिया में आज याद करने लायक खास क्या है?

शीला भाटिया को बचपन से ही संगीत का शौक था और उनके पिता इस हक़ में नहीं थे कि शीला संगीत सीखें। शीला ने तब ग़ते के टुकड़े पर हारमोनियम के सुरों को रंग-बिरंगे काग़ज़ों से सजाया और उसपर संगीत का रियाज़ करने लगीं। इस तरह की लगन की मिसाल कम ही देखने को मिलेगी। वह कश्मीर रेडियो स्टेशन से ब्रॉडकास्ट करने वाली पहली महिला बनीं। तब कश्मीर के तत्कालीन प्रधानमंत्री शेख़ अब्दुल्ला शीला के प्रशंसक थे और उनका थियेटर उन्होंने भी देखा था लेकिन शीला भाटिया को असली पहचान दिल्ली आकर ही मिली। दिल्ली में आकर शीला ने अपने को नये रूप में पहचाना। कश्मीर में भौंड पाथर नाट्य-शैली का इस्तेमाल करने वाली शीला भाटिया ने स्वयं को ओपेरा में खोजना शुरू किया।

दिल्ली में ही 1951 में जब कॉल आफ़ दि वैली खेला गया तो अगले दिन अख़बारों में छपा 'शाबाश शीला'। शीला हैरान थीं कि यह क्या हुआ। वस्तुतः यहीं से शीला भाटिया के लिए थियेटर की दुनिया के दरवाज़े खुलते हैं। यहाँ शुरू हुए रास्ते से चलकर स्कूल में गाने वाली और एक मच्छर की भूमिका निभाने वाली शीला के नाम से जाने वाली लड़की थियेटर की दुनिया में आला मुक़ाम हासिल करने वाली शीला भाटिया बनीं।

1958 में एशियन थियेटर इंस्टीट्यूट को ही नेशनल स्कूल आफ़ ड्रामा एंड एशियन थियेटर इंस्टीट्यूट बनाया गया तो नैमिचंद्र जैन, इंदु घोष, देव महापात्र तथा शांता गाँधी के साथ शीला भाटिया भी जुड़ीं। बाद में पंचानन पाठक भी जुड़े। 1960 से इसे केवल नेशनल स्कूल आफ़ ड्रामा के नाम से जाना जाने लगा और इसके पहले निदेशक सत्तु सेन बने। उन्होंने जल्दी ही यह पद छोड़ दिया और ई. अल्काजी ने यह पद संभाला। नेशनल स्कूल आफ़ ड्रामा स्थापित करने का एक मक़सद यह था कि थियेटर एक मूवमेंट बने। लेकिन शीला भाटिया इससे पहले ही, यानी 1956 में दिल्ली आर्ट थियेटर की स्थापना कर चुकी थीं। उनकी पहली प्रस्तुति 'हीर रौझा' थी।

शीला भाटिया को भी हर पंजाबी की तरह से पंजाब से बड़ा प्यार था। एक बार पंजाब का विभाजन 1947 में हुआ तो अमृता प्रीतम रोई थीं-



'अज्ज आखाँ वारिस शाह नूँ, कित्थों कबरों विच्चों बोल,
ते अज्ज किताबें इश्क दा, कोई अगला वरका फोल।
इक रोई सी भी पंजाब दी, तू लिख-लिख मारे वैण,
अज्ज लक्खों धीयाँ रोंदियाँ, तैरूँ वारिस शाह नूँ कहण।
उठ दर्दमंदों देआ दर्देआ, उठ तक अपना पंजाब।
अज्ज बेले लाशाँ बिछियाँ, ते लहू दी भरी चनाव।'

1966 में पंजाब का दूसरी बार विभाजन हुआ और हरियाणा बना। थियेटर समय के साथ और मनुष्य के अंतर्मन के साथ कैसे जुड़ कर चलता है, इसका ज्वलंत उदाहरण है शीला भाटिया का नाटक 'चन्न बदलौं दा'। इसके बाद तो शीला भाटिया पंजाबी थियेटर का पर्याय बन गईं। 1979 में फ्रैंज़ अहमद फ्रैंज़ की नज़्म के एक टुकड़े को आधार बनाकर उन्होंने फ्रैंज़ साहब को याद किया। फ्रैंज़ की शायरी मुख्य रूप से दो हिस्सों में रेखांकित होती है- 'ग्रामे-दौरी' और 'ग्रामे जानौं'। इन दोनों रूपों के साथ न्याय कर पाना आसान न था लेकिन फ्रैंज़ की लगभग पूरी या अधूरी सत्तर गज़लों के साथ इसे एक संगीतक के रूप में कामयाबी के साथ प्रस्तुत किया गया। शीला भाटिया में बुल्लेशाह जैसी बोल्लडनैस और बुद्धिमता थी। 'सुलगदे दरिया' औरत की ख़स्ताहाली की तस्वीर पेश करता है तो उनके दो नाट्य-रूपांतर भी उनकी इसी सोच की तस्दीक करते हैं। उनकी सोच स्पेनिश नाटककार लोर्ज़ा के करीब थी। इसीलिए उन्होंने उनके दो नाटकों 'यरमा' एवं 'ब्लड वेडिंग' के रूपांतर किए और खेले। 'शहंशाह अकबर', 'यह इश्क नहीं आसों', 'कागज़ ते कैनवास', 'उमर खैयाम', 'नादिर शाह' आदि अनेक नाट्यालेख उनके नाम दर्ज हैं।

हर कलाकार की कुछ चिंताएँ और अपेक्षाएँ होती हैं, जिनके लिए वह अपना जीवन समर्पित कर देता है। शीला भाटिया भी अपवाद नहीं हैं। उनके जीवन, कैरियर और रंगकर्म पर निगाह डालने से पता चलता है कि उनकी कुछ चिंताएँ और तकलीफ़ें थीं। कुछ अपेक्षाएँ भी थीं।

उनकी पहली तकलीफ़ यह थी कि राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में रहते हुए अल्काजी ने उन्हें या किसी अन्य शिक्षक को प्रोफ़ेसर नहीं बनने दिया। एक शिक्षक होने के नाते मुझे भी लगता है कि अपने जीवन-काल में शिक्षक को पद और धन दोनों से उसका देय उसे मिलना चाहिए। यह तकलीफ़ उन्हें जीवनभर रही। दूसरी इससे भी बड़ी तकलीफ़ और चिंता पंजाबी ओपेरा के भविष्य को लेकर थी। यह तथ्य सर्वविदित है कि न तो उनके जीवन काल में और ना ही उनके बाद ओपेरा कोई मूवमेंट बन सका। आज तो ओपेरा करने के बारे में कोई सोचता भी नहीं। कारण है बुलंद आवाज़ों का मंच से अनुपस्थित होते जाना। एक समय था जब शन्नो खुराना, ललित, महेन्द्र चौपड़ा, विनोद नागपाल और मदनबाला सिंधु जैसी आवाज़ों से पंजाबी और हिन्दी रंगमंच गुलज़ार था लेकिन अब ऐसी आवाज़ें या तो जागरणों में सुनाई देती हैं या फ़िल्मों में। थियेटर में पैसा न मिलने के कारण आवाज़ों ने अपने रास्ते बदल लिए। मिशन पर बाज़ार हावी होता चला गया।



उनकी तीसरी चिंता थी कि ओपेरा की बारीकियाँ सिखाने के लिए एक ऐसा इंस्टिट्यूट बने, जहाँ यह संभव हो सके। यह भी, न तब हुआ और न अब कहीं कुछ हो रहा है।

उनकी चौथी और बड़ी तकलीफ़ औरतों की ख़स्ताहाली को लेकर थी। उन्होंने अपने नाटकों के माध्यम से इन तकलीफ़ों को उजागर किया है, रेखांकित किया है। समाज औरत को जैसा समझे सो समझे, उन्हें लगता था कि भारतीय समाज में औरत ने खुद को खुद ही दायम दर्जे का मान लिया है। अगर आप खुद ही अपने को कमतर करके आँक रहे हों तो दूसरे लोग तो ऐसा करेंगे ही। वे प्रचलित अर्थों से इतर औरत को एक व्यक्ति के रूप में लड़ते-जूझते देखना चाहती थीं। इसके लिए वे जीवनभर सतत काम करती रहीं।

शीला भाटिया की सबसे बड़ी तकलीफ़ यह थी कि आवासीय नीति बनाते हुए सरकार लगभग हर ज़रूरत का ध्यान रखती है कि परिसर या कालोनी में स्कूल हो, अस्पताल हो, शैक्षिक संस्थान हों, पानी, बाज़ार, ट्रांसपोर्ट आदि सब हो लेकिन कोई भी सरकार सांस्कृतिक केंद्र बनाने के लिए ज़मीन का एक टुकड़ा नहीं छोड़ती। ऐसे में बात आगे बढ़ेगी कैसे? यह बात सत्य है कि आज़ादी के बाद किसी भी सरकार ने कभी कोई राष्ट्रीय सांस्कृतिक नीति बनाने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। होता यह है कि जिस भी राजनैतिक दल की सरकार बनती है, वह दल सांस्कृतिक नीति के नाम पर अपना एजेंडा लादेता है। इस तरह से हर बार एकांगी और आधी-अधूरी नीति से ही सामना करना पड़ता है।

समावेशी दृष्टिकोण अनुपस्थित होता है। इस मामले में सभी संस्कृतिकर्मियों को एकजुट होकर कुछ करना चाहिए ताकि जनोन्मुखी सांस्कृतिक नीति बने और लागू हो। जगह मिले और धन भी। प्रशिक्षण मिले और सुविधाएँ भी।

शीला भाटिया की एक ख़ासियत पंजाबी लोकगीतों को नया रंग देकर उन्हें समकालीन बना देना था। मिसाल के तौर पर पंजाबी का एक मशहूर लोकगीत है-

हुल्ले हुल्लारे, हुल्ले हुल्ले हुल्ले।

इसका इस्तेमाल शीला भाटिया ने आज़ादी के तरानों के रूप में कर लिया और इसे रूप दिया-

हुल्ले हुल्लारे हुल्ले हुल्ले हुल्ले / मैं कोई नेड़े तेड़े / नी इक गल सुनावी / ऐह नूँ सुट न पावो / कीकण आए फ़िरंगी / बैठे बणके वपारी आए अग लैण नूँ / बैठे बण घरवाले।

एहे जेहे नीच फ़िरंगी नूँ / पहुँचा छाँ पार फ़िरंगी नूँ।

शीला भाटिया ने अपने जीवन-काल में लगभग तीस नाटकों और ओपेरा का निर्देशन किया, जिनमें से चौबीस उनके अपने लिखे हुए हैं। उन्होंने 'जुगनी' को जीवंत किया फ्रैंज़ अहमद फ्रैंज़, अमीर खुसरो, ग़ालिब, उमर खैयाम और द्रौपदी जैसे किरदारों को अपनी सूझ-बूझ से नये मायने दिए।

शीला भाटिया बेशक आज हमारे बीच नहीं हैं लेकिन पंजाबी ओपेरा फिर जीवित होने का इंतज़ार आज भी कर रहा है। उनकी चिंताएँ आज भी रंग एवं संस्कृतिकर्मियों का संघर्ष के लिए आह्वान कर रही हैं। □

गोपालराम गहमरी और 'समालोचक'

संजय कृष्ण

पं. अंबिका प्रसाद वाजपेयी ने अपने 'समाचारपत्रों का इतिहास' में 1902 में निकलने वाले पत्रों के बारे में जानकारी देते हुए लिखा है, "इस वर्ष कुल आठ पत्र नये निकले। इनमें चार साप्ताहिक और दो मासिक थे। साप्ताहिकों में एक जबलपुर से, एक गया से, एक मिर्जापुर से, एक वृंदावन से और एक भावनगर से प्रकाशित हुआ। मासिक 'अनाथरक्षक' अजमेर के श्रीमद् दयानंद अनाथालय से प्रकाशित हुआ था। इसके संपादक सेठ मांगीलाल कविकिंकर थे।" इस साल के कुछ और पत्रों का उल्लेख करते हैं। ऊपर उन्होंने चार साप्ताहिकों का जिक्र किया, लेकिन सूची पाँच की देते हैं। इस पुस्तक में कुछ चीजें छूट गई थीं। यह स्वाभाविक है। आखिर, एक व्यक्ति अकेले देशभर से निकलने वाले पत्रों का इतिहास नहीं दे सकता। अतः हम मानकर चलते हैं कि इस साल का महत्वपूर्ण मासिक 'समालोचक' उनकी नज़र से छूट गया हो। 'समाचारपत्रों का इतिहास' का पहला संस्करण संवत् 2010 में आया था। पुनर्मुद्रण संवत् 2062 में। इसे 'आज' प्रेस के ज्ञानमंडल लिमिटेड, बनारस ने छपा है।

एक दूसरी और महत्वपूर्ण पुस्तक 1992 में वेदप्रताप वैदिक के संपादन में 'हिन्दी पत्रकारिता के विविध आयाम' आई थी। इसके पहले खंड में भंवर सुराणा 'राजस्थान की हिन्दी पत्रकारिता' अध्याय में आधी-अधूरी जानकारी देते हुए लिखते हैं, "साहित्यिक पत्रिकाओं में जोधपुर से प्रकाशित 'भारत मार्तंड' और जयपुर से प्रकाशित 'समालोचक' मासिक महत्वपूर्ण थीं। जवाहर लाल जैन वैद्य के संपादन में प्रकाशित 'समालोचक' (1902) इस विधा की संभवतः प्रथम पत्रिका थी। कुछ विद्वान इसके संपादक के रूप में पं. चंद्रधर शर्मा गुलेरी का नाम भी जोड़ते हैं, जिसका खंडन उन्होंने स्वयं किया था। वे संभवतः इस पत्र के प्रणेता-प्रेरक रहे होंगे।" गुलेरीजी ने कब इसका खंडन किया, यह पता नहीं, लेकिन भंवर सुराणा को जानना चाहिए कि वे भला इसका खंडन क्यों करेंगे, जबकि उन्होंने इसका संपादन भार सँभाला था। विष्णु पंकज जरूर थोड़ा सच के करीब पहुँचते हैं। 'हिन्दी पत्रकारिता की विकास-यात्रा' (2009) में लिखते हैं, "समालोचक"-अगस्त, 1902 में जवाहर लाल जैन वैद्य द्वारा प्रकाशित इस मासिक पत्र के प्रथम संपादक गोपालराम गहमरी रहे, फिर जैन वैद्य संपादक बने। चंद्रधर शर्मा गुलेरी का संपादकीय सहयोग इसे प्राप्त था। यह पत्र 1906 तक निकला। वर्षभर में इसमें 300 से 460 तक पृष्ठ होते थे। यह पत्र स्वदेशी का पक्षधर था। यह स्वाधीनता का समर्थक था। इसमें 'यत्र, तत्र, सर्वत्र', पुस्तक समीक्षा, साक्षात्कार तथा अन्य विषयक लेखादि रहते थे। हिन्दी का पहला साक्षात्कार 'संगीत की धुन : एक संवाद' इस पत्र के सितंबर, 1905 के अंक में प्रकाशित हुआ था। यह साक्षात्कार संगीत-महारथी विष्णु दिगंबर पलुस्कर से चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने 'समालोचक' के प्रतिनिधि के रूप में लिया था।" अर्जुन तिवारी अपनी शोधपूर्ण पुस्तक 'हिन्दी पत्रकारिता के वृहद इतिहास' में लिखते हैं, "'समालोचक' (मासिक) सन् 1902 से जयपुर से प्रकाशित हुआ, जिसको पं. चंद्रधर शर्मा गुलेरी तथा गोपालराम गहमरी की कुशल लेखनी का संबल प्राप्त था। पत्र-प्रकाशन के मूल में हिन्दी साहित्य की समालोचना के साथ राष्ट्रीय जागरण की भावना को उजागर करना था।"

ये कुछ बानगी भर हैं। ये अपने क्षेत्र के जाने-माने लेखक हैं। फिर भी एक पत्रिका के बारे में कोई मुकम्मल और सही जानकारी नहीं दे पाते हैं। हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास अब भी लिखा जाना है। बहुत कुछ छूट गया है। यह स्थानीय स्तर पर हो सकता है। इसमें रुचि का भी सवाल है। कई बार तो जाति अहं और ज्ञान के अहंकार के कारण भी कुछ महानुभाव जान-बूझकर इस तरह की महत्वपूर्ण सूचनाओं को छिपा लेते हैं या जिक्र तक नहीं करते या करना मजबूरी ही हो जाए तो चलताऊ ढंग से करते हैं।

इसलिए, सन् 1900 में निकलने वाली 'सरस्वती' के बारे में हम बहुत कुछ जानते हैं, लेकिन उसी साल निकलने वाली पत्रिका 'जासूस' और दो साल बाद जयपुर से निकलने वाली आलोचना पर केंद्रित संभवतः पहली



हिन्दी पत्रिका 'समालोचक' के संपादक के बारे में कुछ नहीं जानते। 'जासूस' हिन्दी की पहली जासूसी पत्रिका थी और यह एक गाँव, गहमर से प्रकाशित होती थी और पूरे 38 साल तक हर महीने निकलती रही।

इसके पीछे के कारण और राजनीति क्या हो सकती है? अपने समय के कई प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं के संपादक रहे गोपालराम गहमरी को भी जासूसी लेखक के तौर पर सीमित कर उनके काम को नजरअंदाज करने की कोशिश की गई जबकि 'समालोचक' के पहले संपादक गोपालराम गहमरी थे, चंद्रधर शर्मा गुलेरी नहीं। गहमरी के संपादन में निकलने वाली इसी पत्रिका में कविता में खड़ी बोली को लेकर बहस चली थी। गहमरी अन्यत्र खड़ी बोली के पक्ष में लिख चुके थे। उनका साफ मानना था कि यह कवि पर निर्भर करता है, कविता पर नहीं। उस समय यह बात कहना बड़ी बात थी। भारतेंदु हरिश्चंद्र खड़ी बोली के पक्ष में नहीं थे, लेकिन गहमरीजी खड़ी बोली के साथ खड़े थे। इस तरह का पत्र था 'समालोचक'। फिर भी इस पत्र के बारे में बहुत खामोशी छाई हुई है।

'समालोचक' का पहला अंक अगस्त 1902 में आया था। अंक के पहले पृष्ठ पर सबसे ऊपर समालोचक लिखा होता था। उसके नीचे की पंक्ति में मासिक पत्र। तीसरी पंक्ति में बाबू गोपालराम गहमर निवासी द्वारा संपादित। चौथी पंक्ति थोड़ी मोटी होती थी। इस पंक्ति में 'नागरी भवन जैपुर से प्रकाशित' लिखा होता था। इसके बाद दो-दो पतली लाइनों के बीच में भाग एक जैपुर श्रावण सं 1959 वि। इसके नीचे अंग्रेजी में JAIPUR-August 1902। फिर अंक 11 नीचे बाक्स में मुद्रित विषय। इसके नीचे विषय और पृष्ठ।

पहले अंक में विषय के अंतर्गत नियम, आगमन, समालोचना, साहित्य समालोचना, तार्किक, हिन्दी की चिंदी, पद्य की भाषा और समालोचक समिति। यही विषय थे। सबसे नीचे-यूनिशन प्रेस कंपनी लिमिटेड-जबलपुर से मुद्रित छपा था। यानी पहला अंक जबलपुर से प्रकाशित हुआ था। जयपुर की जगह तब जैपुर लिखा जाता था। जैसे दरभंगा को दर्भंगा।

पत्रिका की नियमावली भी बहुत कुछ स्पष्ट कर देती है-

- 'समालोचक' हर अंग्रेजी महीने के दूसरे सप्ताह में निकला करेगा।
- दाम इसका सालाना १।।) है। सालभर से कम का कोई ग्राहक न हो सकेगा और का टिकट भेजे बिना नमूना भी नहीं पा सकेगा।
- 'समालोचक' में जो विज्ञापन छपेंगे, उनमें कुछ भी झूठा व अतिरंजित होगा तो उसकी समालोचना करके सर्व साधारण को धोखे से बचाने की चेष्टा की जाएगी। कोई विज्ञापन बिना पूरी जाँच किए नहीं छपा जायगा।
- आई हुई वस्तुओं की बारी से समालोचना होगी। किसी की व्यक्तिगत विरोध से भरी वा असभ्य शब्द पूरित आलोचना नहीं छपी जाएगी। जिस वस्तु की समालोचना छपी जाएगी, उसकी न्याय युक्त और पक्षपात शून्य समालोचना छपी जाएगी।
- जो पुस्तक व पोथी जघन्य अथवा महानिन्दित और सर्व साधारण के लिए अहितकर होगी उसका प्रचार और प्रकाश बंद करने के लिए उचित उद्योग किया जाएगा। जो उत्तम, उपकारी और सर्व साधारण में प्रचार योग्य होगी, उसके प्रचार का उचित उद्योग किया जाएगा, इन पुस्तकों के सुलेखकों को प्रशंसा पत्र व पुरस्कार प्रदानादि से उत्साहित किया जाएगा।



- जो समालोचना समालोचक समिति के विद्वान और सभ्यों की लिखी वाद-विवाद से उत्तम और सुयुक्तिपूर्ण होगी वही छपी जाएगी। 'समालोचक' की छपी समालोचना किसी व्यक्ति-विशेष की लिखी नहीं समझनी चाहिए।

- समालोचक के लिए, समाचार पत्र, पुस्तक आदि समालोचक संपादक के नाम गहमर (ग्राजीपुर) को भेजना चाहिए और मूल्यादि ग्राहक होने की चिट्ठी, पता बदलने के पत्र विज्ञापन के मामले की चिट्ठी-पत्री सब समालोचक के मैनेजर मिस्टर जैनवैद्य, जौहरी, बाजार जैपुर के पते पर भेजना चाहिए।

ये सात नियम थे। एक बात उल्लेखनीय है कि गहमरीजी इसका संपादन भी अपने गाँव गहमर से ही करते थे। प्रवेशांक में पत्रिका के उद्देश्यों के बारे में 'आगमन' शीर्षक टिप्पणी में जानकारी मिलती है। वे लिखते हैं- "इस पत्र का मुख्य उद्देश्य समालोचना होगा, उसके साथ साहित्य की आलोचना भी इस में रहा करेगी। अपने उद्देश्य साधन में समालोचक साध्यानुसार त्रुटि नहीं करेगा, लेकिन बहुधा देखा जाता है कि मनुष्य जो बनाना चाहता व बनाता है, प्रतिकूल स्रोत उसे तोड़ बहाता है। उस सर्व सिद्धिदाता मंगलमय भगवान से आरंभ में यही चाहता है कि हजार प्रतिकूल स्रोत और विघ्नव्याघात में भी हम लोगों का संकल्पित उद्देश्य स्थिर रहे।"

साहित्य में पहली बार कोई आलोचना केंद्रित पत्रिका निकली तो वह यही 'समालोचक' थी। यह राजस्थान यंत्रालय-अजमेर तथा सिद्धेश्वर प्रेस बनारस से छपता था। इसका पंजीयन क्रमांक जे 25 था। पत्रिका के मुख पृष्ठ पर ही शीर्षक, उसका मूल्य, प्रकाशन स्थान, वर्ष तथा अनुक्रम छपता था। इसमें प्राप्ति स्वीकार, समालोचना, डाक की थैली, परीक्षक निरीक्षण, संपादकीय टिप्पणी, 'यत्र-तत्र-सर्वत्र' तथा अपनी बात नामक स्तंभ छापते थे। प्राप्ति स्वीकार में पत्रिकाओं, पुस्तकों की सूची प्रकाशित होती थी जो प्राप्त होती थी। समालोचना के अंतर्गत पुस्तक परिचय के साथ व्याकरण, भाषा, वाक्य, विषय व लिपि दोष की विवेचना की जाती थी। कृति की समलोचना के अंतर्गत, पुस्तक परिचय के साथ-साथ व्याकरण, भाषा, वाक्य, विषय व लिपि दोष की विवेचना की जाती थी। यत्र-सत्र-सर्वत्र के अंतर्गत पाठकों, विद्वानों, लेखकों के पत्र प्रकाशित होते थे। इसके साथ ही जीवनी, लेख, टिप्पणी, समालोचना आदि का भी प्रकाशन होता था। इस पत्र के लेखकों में प्रमुख थे- गौरीशंकर हीरानंद ओझा, बंग महिला, गिरजा प्रसाद द्विवेदी, कमलाकर द्विवेदी, काशी प्रसाद (मिर्जापुर), ठाकुर प्रसाद, छेदी प्रसाद तथा गंगा प्रसाद अग्निहोत्री आदि। गहमरीजी ने इसका एक साल तक ही संपादन किया। अगस्त 1903 में गुलेरीजी ने इसके संपादन का दायित्व संभाल लिया।

पहला अंक यूनिशन प्रेस कंपनी लिमिटेड, जबलपुर से प्रकाशित हुआ। बाकी दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ, छठवाँ-सातवाँ अंक धार्मिक प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुआ (छठवाँ-सातवाँ संयुक्त था। इसके बाद प्रयाग में प्लेग फैल गया। सातवें अंक के अंत में सूचना दी गई- "समालोचक' प्रयाग में छपता है और प्रयाग में प्लेग ने इस साल ऐसा उपद्रव किया है कि अनेक कामकाजी लोगों को नगर छोड़ भाग जाना पड़ा। इसी प्रकार धार्मिक प्रेस में कई तरह की गड़बड़ी होने से काम में अनेक तरह की अड़चन आ पड़ी, जिससे 'समालोचक' के अंक ठीक समय पर नहीं निकल सके। जनवरी और फरवरी का अंक आज ही ग्राहकों की सेवा में जाता है। मार्च, अप्रैल और मई का अंक भी

इसी मई में ग्राहकों तक पहुँचेगा।” आठ, नौ व दस अंक भी संयुक्त ही निकले और यह चंद्रप्रभा प्रेस, बनारस सिटी से छपा। 11 व 12 भी संयुक्त ही निकला और यह भी बनारस से ही छपा था।

गोपालराम गहमरी ने कुल एक साल तक इसका संपादन किया। दूसरे शब्दों में कहें तो 12 अंक उनके संपादन में निकले। इसके बाद गुलेरीजी को इसका जिम्मा दे दिया गया। 26 पृष्ठों का एक अंक होता था। पहले ही अंक में गहमरीजी ने ‘हिन्दी की चिंदी’ लिखकर लिंग और वचन पर ध्यान आकर्षित किया और फिर ‘पद्य की भाषा’ में कविता में खड़ी बोली की वकालत की। अयोध्या प्रसाद खत्री के आंदोलन को बल प्रदान किया, जो लंबे समय से यह लड़ाई लड़ रहे थे। दूसरे अंक में हिन्दी साहित्य की वर्तमान दिशा, खड़ी बोली पद्य लिखकर समालोचक की दिशा तय कर दी थी। दूसरे अंक की व्याप्ति बिहार तक हो गई थी। यह उस समय इसकी लोकप्रियता को देख सकते हैं। दूसरे अंक में मुजफ्फरपुर से अयोध्या प्रसाद का एक पत्र छपा था-खड़ी बोली का अनुकूल समय। पत्र इस प्रकार है-

“मेरी डायरी (Diary) के पृष्ठ 33-34 में पं. केशवराम की एक चिट्ठी छपी है जिसमें उन्होंने लिखा था:-

1. पं. श्रीधर पाठक को चुपचाप बैठने न दीजिए। साहित्य भंडार में वह कुछ संचय करते जाएँ।
2. समालोचना उन्नति की पहली सीढ़ी है। जिस देश में लेखकों को समालोचकों का भय नहीं, लेखक निरंकुश रहते हैं। लेखों को सर्वांग सुंदर बनाने का उद्योग नहीं करते....

इस समय हिन्दी में एक ऐसा पत्र अत्यावश्यक है, जिसमें हिन्दी संबंधी सब विषयों की समालोचना रहा करे। हमारे जानते खड़ी बोली आंदोलन इसी का एक अंग है। हिन्दी का इतिहास भी इसी का अंग हो सकता है। ‘समालोचक’ या और कोई अच्छा नाम रखकर मासिक या त्रैमासिक कोई पत्र निकाला जाय तो हिन्दी का बड़ा उपकार हो।...

पण्डित श्रीधर पाठक ने 23 मार्च 1901 के बाद Goldsmith के Traveller का अनुवाद ‘भारतमित्र’ में 30 अगस्त 1902 के अंक से फिर छपवाना शुरू कर दिया है। अगस्त 1902 की ‘सरस्वती’ में भी पण्डित वागीश्वर मिश्र की एक खड़ी बोली कविता (‘आकाश मंडल’ शीर्षक) छपी है।

जयपुर से ‘समालोचक’ नामक मासिकपत्र अगस्त 1902 से बाबू गोपाल राम गहमर निवासी द्वारा निकला है। इसमें भी एक लेख खड़ी बोली के पक्ष में ‘पद्य की भाषा’ शीर्षक छपा है।

‘समालोचक’ के संपादक को मैं सम्मति देता हूँ कि पण्डित केशवराम भट्ट भी समालोचक समिति के एक सभ्य बनाए जाएँ।”

मुजफ्फरपुर, अयोध्याप्रसाद 12-9-02

इसी अंक में चौक-आरा (शाहाबाद) के सकल नारायण पाण्डेय का भी 13-9-02 का लिखा ‘हिन्दोस्थान’ पत्रिका को लेकर पत्र छपा था। उन्होंने पत्र के अंत में निवेदन करते हुए लिखा- “यदि हिन्दोस्थान के संपादकगण साधु भाषा में मनोहर लेखों को प्रकाशित करेंगे और यथार्थ रीति से समालोचना किया करेंगे तो मैं अपने को अनुगृहीत समझूँगा इतिशम्।”

दोनों पत्रों के सुझावों पर अमल करते हुए संपादक की समालोचक समिति नाम से टिप्पणी छपी-

“पण्डितजी श्रीकेशवरामजी भट्ट बिहार और पण्डित सकल नारायण पाण्डेय काव्यतीर्थ और व्याकरणतीर्थ चौक आरा समालोचक समिति के सभ्य नियत किए गए हैं। समालोचक समिति की नियमावली सर्वसाधारण के साथ और सभ्यों के साथ स्वतंत्र तैयार हो रही है। छपने पर सभ्य महाशय और सर्व साधारण की सेवा में भेजी जाएँगी।

समालोचना के लिए अनेक पुस्तकें प्राप्त हुई हैं। इस अंक में उनकी समालोचना नहीं हुई। अगले अंक से लगातार समालोचना प्रकाशित होगी। सब आई हुई पुस्तकों की बारी-बारी से समालोचना लिखी जाएगी। पुस्तक भेजने वाले महाशय धैर्य रखें।”

‘समालोचक’ आलोचना केंद्रित पत्रिका थी। कविता में खड़ी बोली की हिमायती थी। पुस्तकों की समीक्षाएँ छपती ही थीं। इनके अलावा पत्र-पत्रिकाओं की आलोचना, हिन्दी भाषा, व्याकरण आदि को लेकर भी सुझाव और लेख आदि प्रकाशित होते थे। उपन्यास, नाटक, रूपक और गीति, विज्ञान शास्त्र और शब्द कोष, भूगोल और इतिहास पर भी लेख समीक्षा आदि प्रकाशित होते थे। ‘धर्म ग्रन्थ’ नामक पुस्तक की गंभीर समीक्षा भी दिखती है। अंक तीन में ‘सौदामिनी’ उपन्यास की लंबी समीक्षा प्रकाशित है। अंक चार में हिन्दी की लिपि पर चर्चा की गई है। ‘भारत की आशंका’ नामक लेख कई अंकों में प्रकाशित हुआ। अगले अंक में नाटक की भाषा पर बात की गई है। इस अंक में भारतवर्ष का इतिहास ज्ञानवर्धक लेख है। यही नहीं, इस अंक में नागपुर से प्रकाशित ‘छत्तीसगढ़ मित्र’ की समीक्षा की गई है। पर, इस अंक के बंद होने की दुखद सूचना भी। अंक के अंतिम पृष्ठ पर- ‘मित्र का वियोग’ नाम की सूचनात्मक टिप्पणी प्रकाशित की गई है-“समालोचना छपते-छपते ‘छत्तीसगढ़ मित्र’ के बंद होने की बात पड़ी। ऐसे सुंदर उपयोगी मासिक पत्र के बंद होने से हम को बड़ा दुख हुआ। ‘छत्तीसगढ़ मित्र’ का बंद होना हमारे इस विश्वास को दृढ़ करता है कि हिन्दी में अभी रत्नों के चाहने और परखने वाले बहुत कम हैं। संपादक ने किसी और रूप में दर्शन देने की बात कहकर पाठकों को प्रबोध दिया है भगवान उनको सफल मनोर्थ करे।”

अंक 6-7 संयुक्त प्रकाशित हुआ था और इस अंक में ‘राष्ट्रभाषा’ नामक पुस्तक की लंबी समीक्षा है। यह पुस्तक मराठी है और इसका हिन्दी अनुवाद पं. गंगा प्रसाद अग्निहोत्री ने किया है। नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा यह प्रकाशित है। बताया गया कि इस पुस्तक की प्रशंसा बंबई के पचीसों समाचारपत्र और पं. बालगंगाधर तिलक प्रभृति अनेक विद्वानों ने की है, इससे अनुदित पुस्तक भी प्रशंसनीय हो जाती है और इस पुस्तक की समीक्षा भी सकल नारायण पाण्डेय ने की है। समीक्षा के अंतिम पैराग्राफ या चौथे अंक में उन्होंने लिखा है-“पुस्तक उत्तम श्रेणी की है। इसमें गुण अधिक और दोष थोड़े हैं। हिन्दी रसिकों को उचित है कि इस पुस्तक को क्रय करके वे अवश्य पढ़ें। आशा है कि वे अवश्य लाभ उठावेंगे। इस ढंग की दूसरी पुस्तक अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है। मैं इसके गुणों पर मोहित होकर रचयिता, अनुवादक और प्रकाशक को धन्यवाद देता हूँ।”

अंक आठ, नौ व दस यानी मार्च, अप्रैल, मई के अंक भी संयुक्तांक ही निकले। इसके पीछे प्रयाग में प्लेग की बीमारी कारण रही। इस अंक में नेशन क्या है, हिन्दुत्व, राष्ट्र और नेशन, परनिंदा, महाकाव्य के लक्षण, उपन्यास में स्त्री चरित्र और पारसी लोगों का भारत में आना विषयक लेख हैं। आज भी हम नेशन और राष्ट्र को लेकर बहसतलब हैं। 1902 में गहमरीजी अपनी पत्रिका में इस पर गंभीर लेख प्रकाशित कर रहे थे। उपन्यास में स्त्री चरित्र का सवाल पर बंग साहित्य को लेकर है। उस समय कहा गया कि “बंकिम चंद्र चटर्जी ने अपने उपन्यासों में जो भारतवर्षीय स्त्रियों के चरित्र अंकित किए हैं, वह ठीक हिन्दू नारी के अनुरूप नहीं हैं।” यह लेख अगले अंक 11-12 -संयुक्तांक में भी जारी रहता है। फिर अलग से भी बंकिम बाबू के उपन्यासों में स्त्री चरित्र पर लंबा लेख है। इस अंक में हम इतिहास पर भी लेख देखते हैं। अशोक का काल निर्णय के साथ हिन्दी भाषा और उसके साहित्य पर चर्चा है। हम इस अंक में एक और महत्वपूर्ण आलोचना पाते हैं- “भारतवर्षीय ईसप्स फेबला।” इसकी शुरुआती पंक्तियाँ हैं- अर्द्धशताब्दी

पहले स्वर्गवासी पण्डित ईश्वरचंद्र विद्यासागर महाशय ने ईसप्स फेबल नाम के प्रसिद्ध अंग्रेजी ग्रंथ के कुछ क्रिस्से बंगभाषा में अनुवादित करके कथामाला के नाम से प्रकाशित किए थे। यह बालकों के लिए थी। यह काफ़ी शोधपूर्ण, लंबी और गंभीर समीक्षा है। और, इसी अंतिम अंक में 'हिन्दी भाषा और उसका साहित्य' महावीर प्रसाद द्विवेदी और अयोध्या प्रसाद खत्री के आमने-सामने कथन दिए गए हैं। एक पृष्ठ पर एक तरफ़ द्विवेदीजी का कथन और उसके सामने अयोध्या प्रसाद का। इस कथन के कई सवाल, संशय और प्रत्युत्तर हैं। श्रीधर पाठक का भी खड़ी बोली को लेकर विचार है जो इसी में आया है।

इतना सब होने के बाद भी हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'समालोचना' उपेक्षित है। सामान्य साहित्य के इतिहास में तो इसका कहीं जिक्र ही नहीं होता है। होता भी है तो बताया जाता है कि इसके संपादक चंद्रधर शर्मा गुलेरी थे, जबकि वह इसके संपादक बाद में बने थे। गोपालराम गहमरी का नाम नहीं आता। हालांकि रामनिरंजन परिमलेंदु ने 'अयोध्या प्रसाद खत्री' नामक अपने मोनोग्राफ़ में इसका जिक्र किया है और खड़ी बोले लेखों का उद्धरण भी। इसी तरह बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना द्वारा 1960 में प्रकाशित 'अयोध्या प्रसाद खत्री-स्मारक ग्रंथ' में भी जहाँ-तहाँ समालोचना का जिक्र आया है। इतना बहुत ईमानदारी और स्पष्टता से कहा जा सकता है कि हिन्दी में

'आलोचना' की विधिवत शुरुआत 'समालोचक' से ही हुई। हालांकि इसके पूर्व पत्र-पत्रिकाओं में भी किताबों का परिचय, उनकी समीक्षा आदि प्रकाशित होती थीं, लेकिन सिर्फ़ समालोचना की पत्रिका तो यही थी। एक दूसरी बात, जब हम इन 12 अंकों से गुज़रते हैं तब हमारे सामने गोपालराम गहमरी की सिर्फ़ जासूसी उपन्यासकार की छवि नहीं उभरती, एक धीर-गंभीर आलोचक, हिन्दी प्रेमी, कविता में खड़ी बोली का पक्षकार और साहित्य सेवी की बनती है। यह उनका विचार और दूरदर्शिता ही कही जाएगी कि 117 साल पहले वे हिंदुत्व, राष्ट्र और नेशन पर लेख लिख रहे थे और इसकी व्याख्या कर रहे थे। इस 'समालोचक' से उस समय के श्रेष्ठ रचनाकार जुड़े थे। इस लेख से संभव है, हिन्दी के अधयेता एक बार फिर से समालोचक की पुरानी फ़ाइलें टटोलेंगे और एक निरपेक्ष मूल्यांकन को आगे बढ़ाएँगे। पत्रकारिता के विद्यार्थियों पर यह दायित्व अधिक है। उन्हें कम-से-कम देश की पुरानी पत्र-पत्रिकाओं, फ़ाइलों पर ज़रूर काम करना चाहिए। देखना चाहिए कि हिन्दी की पत्रकारिता और साहित्य का निर्माण किस तरह हुआ और किस-किस ने सेवा भाव से काम किया। अपने अतीत और पुरखों को हमें बार-बार याद करना चाहिए, इससे भविष्य निर्माण में हमारे कदम मज़बूती से पड़ेंगे। □

दुःख सहेजता है

पृष्ठ 29 से आगे

वैश्विक होती जाती दुनिया से सामने रख दिए हैं। इनमें आप भली-भांति नव-उपनिवेशवाद की पदचपें सुन सकते हैं, आप जान सकते हैं कि पूँजीपति घरानों का तंत्र सत्ताओं के बीच किस तरह अपनी जगह बना रहा है। उसकी सद्दृश्य टीस महँगाई के एकल उभार में ही नहीं दिखाई देती बल्कि भीतर तक मानवीय स्वतंत्रता में हस्तक्षेप और स्त्री को देह में परिणत करने की धिनैनी चालों को भी अनुभव के खाते में दर्ज कर डालते हैं। अभी कविताओं के उदाहरण देना संभव नहीं है। इसी बीच हमारे समय के बड़े कवि कंदारनाथ सिंह का भी नया संग्रह पढ़ने को मिला है—'सृष्टि पर पहरा'। यह एक तरह से हमारे विश्व की महत्वपूर्ण आवाज़ है जिसकी अनुगूँज राष्ट्रीयताओं की सरहदों के पार सुनी जाती है। कंदारजी ने अपनी कविताओं की सादगी को विश्व-कविताओं की उस शृंखला के समानांतर खड़ा किया है जहाँ से कविताएँ भाषायी बंधनों से मुक्त होकर विश्व-मानव की संताप-लीला के ताप को कहीं गहरे में बोध के स्तर पर प्रकट करती हैं। पढ़ने की दुनिया में भारतीय और विदेशी लेखकों की अंग्रेजी से अनुदित साहित्य की अनेक कृतियाँ सामने आती हैं।

इसके अतिरिक्त?

इसके अतिरिक्त पुरातत्व, राजनीति और आर्थिक विश्लेषण और भाषा विषयक अध्ययनों की अनेक कृतियाँ पलटने का सौभाग्य मिला हिन्दी में मिथक, पुरातत्व, कला आदि को लेकर एक अकेले आदमी रमेश कुंतल मेघ की कुछ कृतियाँ हाल ही में प्रकाशित हुईं, उनसे गुज़रते हुए शास्त्र और ज्ञान की एक दूसरी ही दुनिया से सामना होता है।

इधर आपने क्या लिखा-सोचा?

इन दिनों मैं अधखिले उपन्यास 'घर मेरा परदेस' पूरा करने में लगा हूँ। साथ-साथ अपनी स्मृति को कुरेदने पर मुझे कुछ बेशकीमती कथाबीज मिले हैं। उन्हें मैंने अपने मस्तिष्क में रोपा है और वे धीरे-धीरे एक वट-वृक्ष का रूप धारण कर रहे हैं। मौका पाते ही उन्हें भी एक बड़ी कथा में पिरोऊँगा। लिखना आसान काम नहीं है। यह जानते हुए आनंद बहुगुणित हो जाता है। अब मैं कहूँ कि मेरे दादा की छह पत्नियाँ

को तो नहीं देखा था पर सातवीं विवाहिता के देहांतरण पर मैं इतना बड़ा था कि सातवीं दादी को आज भी याद करता हूँ। इसमें प्राथमिक सच यह है कि मैं घोर बचपन में मातृविहीन हो गया था, तो माँ के विकल्प के रूप में दादी, ताईयाँ, चाचियाँ, बुआ, मामियाँ, नानी और सारे गाँव की स्त्रियाँ जैसे एक मातृविहीन बालक की सुरक्षा के लिए एकजुट हो गईं, स्मृति का यह तिलिस्मी दरवाज़ा जब मैं भड़भड़ाकर खोलता हूँ तो मैं एक दूसरी ही दुनिया में पहुँच जाता हूँ। ठेट बालपन में न जाने कितनी सनसनीखेज़ शरारत करता था। नदी में बहते लट्ठे पर मैं सवार रहा हूँ, उनके वृत्तांत लिखने के लिए जीवन कितनी छोटी चीज़ है, मैं इससे भी संतप्त नहीं होता। न सही मैं हजार हाथों वाला नहीं, लेकिन पूरे जिस्म में अभिव्यक्ति के आँकुरे फूट रहे हैं।

आपको पचास साल आए हो गए होंगे दिल्ली में लेकिन मुझे लगता है जीवन के शुरुआती वर्षों की स्मृतियाँ ही जीवनपर्यंत लिखने के काम आती हैं। आप कुछ कहना चाहेंगे?

विस्थापितों की दुनिया बड़ी विचित्र होती है। परायी भूमि से अपना नाता ही नहीं जोड़ते। यह शायद तभी संभव हो सकता है अगर मैं परायी जगह आकर खेती-बाड़ी करने लगता, बागवानी करता या चिड़ियों के पीछे दौड़ता, हवा के हिलोरें लेने पर भाग कर छिप जाता या फूलों के खिलने पर हँसता या रोता। मैं तो पराये शहर परायी भूमि पर आया। मेरे निर्दिष्ट काम थे—हॉस्टल के कमरे की सफ़ाई, लिखाई-पढ़ाई, हर साल बदलनेवाले दोस्तों से लड़ाई। कुल मिलाकर शिक्षा के वर्ष अनिर्दिष्ट दौर के वर्ष रहे हैं। इसलिए परायी जगहों पर मुकम्मल सपने भी नहीं आते। यही दिल्ली के पचास वर्षों के हिसाब-किताब हैं। पर ऐसा नहीं है कि शहर ने अपना असर न छोड़ा हो, उसके मारक वृत्तांत अपनी जगह मौजूद हैं। उन्हें भी सृजन की तलवार कभी-न-कभी छिलेगी। अपना लहलुहान चेहरा दूसरे देखें, यह भी संभव होगा। दुनिया के दूसरे हिस्से में जाकर उतनी खुशी, विस्मय या संतोष नहीं हुआ जितना अपने यहाँ होने के दुख में सहेजा। पुरानी सूक्ति है—दुख सहेजता है और सुख बिखेरता है। □

बूढ़ी

राजेश झरपुरे

कालोनी के प्रायः सभी बड़े-बूढ़े सत्संग में उपस्थित थे। सब बूढ़ों की तरह वह भी बूढ़ी थी। वहाँ कुछ बूढ़े ऐसे थे, जो समय के पहले बूढ़े हो चुके थे। कुछ ऐसे कि बूढ़े हो कर भी बूढ़े नहीं होना चाहते थे पर बूढ़े हुए थे। वह उन सब में ऐसी बूढ़ी थी, जिसने बुढ़ापे की सत्ता को कभी स्वीकार ही नहीं किया अपितु उसे अपने पैर की जूती बनाकर रखा। वह अन्य दूसरी नज़रों में बूढ़ी थी पर उसने वैधव्य को अपनी कमजोरी नहीं, ताकत माना था। वह जो है, जैसी है, उसे उस तरह होने पर फ़ख़्र था।

जो समय से पहले बूढ़े हुए, उनसे ठीक विपरीत वह समय को चुनौती देती, उनसे कहीं बाद में बूढ़ी हुई हो पर इस सच को भी उसने आज तक स्वीकार नहीं किया था।

वह जब खिलखिलाकर हँसती तो सैकड़ों गुलाब की पँखुड़ियाँ हवा में तैरती नज़र आतीं। उसकी हँसी बुजुर्गियत के सन्नाटे की दीवार को ध्वस्त कर रख देती। सही मायने में उसकी हँसी बुढ़ापे के खिलाफ़ यलगार थी। पूरी कालोनी में एक वही थी जो बुढ़ापे में आई रिक्तता का अतिक्रमण कर जीवन को सतरंगों से भरने की कला जानती थी। कालोनी में रह रहे अन्य सभी बुजुर्गों के चेहरे पर 'बीत गई, बिसर गई' जैसे भाव होते। वह इसके विरुद्ध 'जियो और जीते चलो' जैसी भावना और उत्साह से भरी हुई होती। वह जानती थी... जीने के लिए हर पल है और मरने के लिए एक ही पल काफ़ी। जिस पल आप 'जी' नहीं रहे होते, सही मायने में आप उस पल में मरे हुए होते हैं।

इसके बावजूद वह अन्य दूसरे बूढ़े-बूढ़ी के साथ सत्संग में इकट्ठा हुई थी। वे सब मौत से डरे हुए थे। डरना उनकी प्रवृत्ति बन चुकी थी। घर में बेटे-बहू से डर-डरकर रहना। बाहर निकले तो ट्रैफ़िक से डरे होना, सामाजिक कार्यक्रम में हों, तो रीति-नीति से डरे होना। अकेले पड़ जाने पर तरह-तरह की आशंकाओं के साथ, अपनी बीमारियों से डरते रहना। डरना जैसे उन सब का स्वभाव बन गया था। अपने इसी स्वभाव के कारण वे जितने जिंदा नहीं होते उससे कहीं अधिक मरे हुए होते।

विशाल शामियाना था। पंडाल में कृष्ण भगवान के बचपन से लेकर बड़े होने तक के बड़े ही मनोहारी चित्र लगे थे। पीठासीन प्रवक्ता के मुखमंडल पर हैलोजन की तेज़ रोशनी से विशेष तरह की चमक निर्मित हो गई थी और पंडाल में बैठे श्रोताओं के चेहरे पर उग आए डर को द्यूबलाइट की रोशनी और अधिक भयावह बना रही थी।

कॉलोनी में कॉलोनीवासियों द्वारा आयोजित सत्संग का कार्यक्रम था। सभी ने बढ़-चढ़कर सहयोग किया। इस तरह के कार्यक्रम में किए गए सहयोग उनकी मान-सम्मान और प्रतिष्ठा में स्वतः बदल जाते हैं। मान-सम्मान और प्रतिष्ठा की रेखा छोटी भी होती और बड़ी भी। उसने किसी रेखा को छोटी करने के मतलब से ना अपनी रेखा को उससे बड़ा खींचा और ना ही किसी छोटी रेखा से अपनी समानता की। उसने अपनी सीमा तय कर रखी थी और तयशुदा हद में ही सहयोग किया था।

प्रायः सभी निर्धारित समय से पूर्व पहुँच चुके थे। वह निश्चित समय पर ही पहुँची। वैसे भी उसके पास वक्त की मारामारी होती है। उसकी वय के लोगों का समय नहीं कटता और उसके पास वक्त बचता नहीं। वक्त के मामले में वह बहुत खर्चीली और पैसे के मामले में मितव्ययी थी।

प्रवचन में सत्य की खोज पर प्रवक्ता महात्माजी द्वारा कुछ कहा जा रहा था। वह महात्माजी के सत्य से निरपेक्ष जीवन में तत्क्षण से जुड़ी छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी हरेक बात और पल का लुत्फ़ बहुत ही चटकारे ले-लेकर उठा रही थी। वह जानती थी जीवन का कोई ऐसा सत्य नहीं जो गुप्त, अनावृत या गोपनीय



हो। जो सत्य है वह हमारे सामने है। वह सामने से हटा तो दूसरा आकर खड़ा हो जाता है। वह भी सत्य है। जो हमारे सम्मुख नहीं रहा, वह स्मृति में बदल जाता है यही जीवन का सत्य है। पर पता नहीं ऐसा कौन सा सत्य था, जिसकी पहचान करने के लिए वे सब सत्संग में जुटे थे।

उसने अपने सामने बैठी बूढ़ी के कान में कुछ कहा। उसे लगा किसी ने कुछ फुसफुसाया। वह ऊँचा सुनती थी और धीमा स्वर उसके कानों में फरफर की आवाज पैदा करता था। वह 'फरफर' देने वाले चेहरे को पढ़कर 'फरफर' को अपनी समझ के अनुसार शब्द और अर्थ का जामा पहना देती और तदनुसार प्रतिक्रिया व्यक्त करती।

उसने तो बूढ़ी औरत के कान में कहा था

"कितना बोरिंग प्रवचन है न..?"

बूढ़ी औरत ने समझा, वह कह रही है

"...अच्छा लग रहा है न?"

उसने धीमे से जवाब दिया

"हाँ! महात्माजी बहुत बढ़िया बोल रहे हैं।"

उसने अपना माथा दाईं हथेली से पटका।

अस्फुट स्वर में उसके होंठ बुदबुदाए...

"हे राम..."

वह बूढ़ी औरत सोने के आभूषणों से लदी थी और उसके बालों में मेंहगी डाई लगी थी। वह सत्य की तरफ पीठ करके बैठी थी और सत्य को सामने से आता हुआ देखना चाहती थी। महात्मा जी मानो उसके कानों में बैठकर बोल रहे थे। वह मंत्रमुग्ध उनके हर एक शब्द और अर्थ का पान कर रही थी। बूढ़ी जैसी बूढ़ी नहीं हुई उस महिला ने मन ही मन दुहराया ...

"माया मरी न मन मरा, मर मर गया शरीर। आशा तृष्णा ना मरी, यूँ कह गए दास कबीर।।"

आभूषण से लदी और सिल्क साड़ी में लिपटी, वह सत्संग में होकर भी सत्य के करीब नहीं थी। उसका पूरा ध्यान और सतर्कता अपने आभूषण और वस्त्र को लेकर था। थोड़ी-थोड़ी देर में उसका ध्यान, घर-द्वार और रिश्ते नाते में उलझ जाता।

वह बूढ़ी औरत जो बिल्कुल अपने-आपको बूढ़ी नहीं समझती थी वहाँ से हटकर खिसकते-खिसकते बाजू वाली लाइन में बैठी महिलाओं के करीब आ गई। ठीक उस लाइन से हटकर एक-डेढ़ हाथ की दूरी पर वृद्ध पुरुषों की लाइन थी। सहसा उस पंक्ति में प्रगट हो जाने पर एक बूढ़े ने उसे बड़ी उत्सुकता से देखा। उसकी आँख में राख में दबी चंद चिंगारी की तरह चमक थी, जो पूरी शक्ति लगा कर फूँक देने के बाद पैदा होती है। उस बूढ़े ने उसे इस तरह देखा मानो अपनी पूरी शक्ति बटोर कर फूँक मार दी हो।

बूढ़ी को एहसास था, वह उसे निहार रहा है। उसने एक उचटती नज़र उस पर डाली और मुस्कुरा दी। 'पुरुष कितना ही बूढ़ा क्यों ना हो जाए, उसकी काम-वासना की आग चिता की आग में जलकर ही शांत होती है। वह भी एकदम से नहीं अपितु तीसरे दिन, खारी बीनते वक्रता। उस दिन यानि 'तीसरे' में भी राख में कुछ चिंगारी दबी पड़ी रहती है...' वह इस सत्य से वाकिफ थी।

सत्संग चल रहा था। लोग मंत्रमुग्ध से उन्हें सुन रहे थे या सुनने की चेष्टा कर रहे थे। वे सब कितना सुन पा रहे थे और कितना समझ पा रहे थे, इसका एहसास बूढ़ी को था। उसने अपने ठीक बाजू में बैठी महिला से धीरे से फुसफुसाते हुए पूछा...

"आप महात्माजी को जानती हैं..?"

उसने धीरे से 'न' कहते हुए सिर हिला दिया। बूढ़ी जानती थी, वह उसकी कालोनी में उसके घर से पीछे की चार लाइन की लेन नंबर सात में रहती है। सुबह से रसोई में खटती है और देर रात बर्तनों की खड़ग-पड़क की आवाज के बाद चैन की नींद सो जाना चाहती पर सो नहीं पाती। बहू के ताना मारते शब्दों की नुक्की नींद में भी उसे कुँचती। वह सोकर भी सो नहीं पाती। नींद उसके आसपास मंडराती रहती। वह लगातार उसे पकड़ने का प्रयास भर करती रह जाती। इस लुका-छुपी में पता नहीं कब मुर्राँ बाँग देकर 'द गेम इज ओवर' का ऐलान कर देता। वह एक और दिन को ढोने के लिए मुस्तैद हो बिछौना छोड़ उठ बैठती।

वह बूढ़ी जानती है माँ को घर-गृहस्थी का सच्चा सुख, बेटा ब्याहने के पहले ही मिल पाता है। उसके बाद सुख या तो किस्मत से मिलता है या पेंशन से। उसके पास यह दोनों नहीं था और वह बेटे-बहू के लिए बोझ और तनाव का कारण थी। उसका बुढ़ापा बेटे-बहू के अत्फ़ (रहमोकरम) पर सौँस ले रहा था। वह सत्संग में ही बड़ी मुश्किल से पहुँच पाई थी। वह महात्मा को कैसे जानेगी, जो खुद को नहीं जानती।

उसके पास असीमित शक्तियाँ हैं। वह अबला नहीं है। वह निर्बल नहीं है। उसे अफ़सोस हुआ ऐसे निःशक्त जीवन पर। वह वहाँ से भी खिसकते हुए और सबसे पीछे की लाइन में चल दी। वह बूढ़ा उसे देखता ही रहा।

सत्य का साथ ही सत्संग है न..?

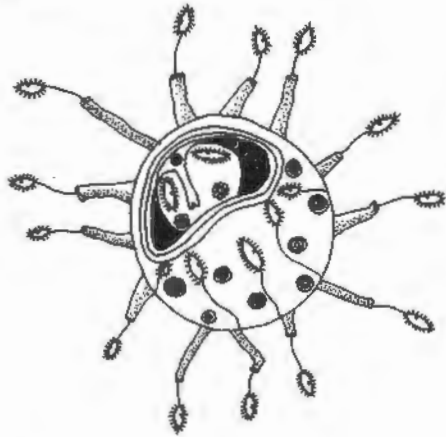
फिर क्यों सब सत्य से विलग हैं, सोचती हुई उसने अपने सामने बैठी बूढ़ी के काँधे पर थपकी लगाई। वह उसे जानती थी और अक्सर उसके घर आना-जाना लगा रहता था। वह कालोनी में उसके घर के पास की अगली गली, लेन नंबर ग्यारह में रहती थीं। बहुत धर्मांध थीं। अपने जीवन में चारों धाम की यात्रा कर चुकी थीं और सुबह-शाम 'राम नाम' रटती थीं। घर में सब सुख था पर शांति नहीं। वह पेंशनभोगी रिटायर्ड प्रिंसिपल थीं। उसके पति प्रशासनिक अधिकारी थे। वह पत्नी से पूर्व सेवामुक्त हुए। दोनों की पेंशन एक लाख से कुछ अधिक थी। एक ही बेटा था...एकदम निठल्ला। पढ़ाई-लिखाई में ठप्प। कमाई ढेले भर नहीं और शान रईसों जैसी। माँ-बाप का मुँह देखकर लड़की मिल गई। शादी हुई पर कमाई का जरिया नहीं बना या यूँ कहे बनाया ही नहीं गया। बहू को बी.एड. करा कर समझदार माँ ने बेटे के दाना-पानी का जुगाड़ कर दिया पर घर में माँ-बेटे और पिता के बीच होने वाली खटपट का कोई इलाज नहीं था। जहाँ संबंधों में खटपट रहती है वहाँ संतोष और शांति नहीं होती। वह सत्संग से कुछ 'शांति' अपने घर ले जाने आई थीं।

वह नहीं जानती है, "...शांति और संतोष अंदर से बाहर की यात्रा करते हैं, बाहर से अंदर की ओर कदापि नहीं।" घर में रखी चीज को बाहर जाकर ढूँढना या गुम हो जाने की शिकायत करना मूर्खता ही है। वह समझ चुकी थी... इस बूढ़ी औरत का धर्म भी सत्य से बहुत दूर है। वह गृहकलह से पीछा छुड़ाने के चक्कर में किसी अनजान खतरे में फँसने जा रही है। उसे उस बूढ़ी से वितृष्णा हुई।

वह पंडाल में एकदम पीछे बैठी थी और वहाँ से उठ कर बाहर आ गई। सत्संग में और न जाने कितने वृद्ध सत्य से परे चुपचाप बैठे, सुन रहे थे। सत्य की पैरवी करने वाला महात्मा, सत्य से कोसों दूर था और सत्य वहीं कहीं बैठा मुस्कुरा रहा था।

आधा घंटे में ही वह पूरी तरह ऊब गई और सत्संग से अपने सत्य को साथ लेकर बाहर आ गई, 'वह बूढ़ी नहीं हुई है।' □

● एक कविता : राग रंजन



देखना

देखो जब ठहरना
ठहर कर देखना

दोनों आँखों से सधी दृष्टि से भाँपकर
देखना सहसा रुकी बारिश की बूँदों को
दूब की नौक से वाष्प होते हुए
और इस तरह आकाश के गुरुत्व को देखना

दो आँखें जो कभी नहीं देख पातीं
एक-दूसरे को
उनसे वह सब देखना जो
दो के एक साथ देखने लायक है

आकाश के अनहद कुँएँ में झाँककर
देखना मुक्ति के नये मार्ग
झपकभर में उतार लाना सारा नयापन
ऊँचे तनों पर टिका देना हरे बादल
और इस तरह फिर बसे हुए वनों को देखना

पृथ्वी पर अपने आसपास
जिन्हें कोई नहीं देखता
उन्हें देखना देर तक।

संपर्क : मो. 9686694459
ई-मेल : ragranjan@gmail.com

● दो कविताएँ : नवनीत पाण्डे



क्या भूलूँ, क्या याद करूँ
देख रहा हूँ असहाय
कबाड़ी को सब कबाड़ में ले जाते हुए
आज नहीं तो कल
शायद यही नियति है
एक दिन मैं भी...।

अकेली औरत

अकेली औरत
औरत नहीं
प्रश्न है सब के बीच
वह अकेली क्यों है
वह इतनी चिड़चिड़ी क्यों है
वह इतनी गुस्सा क्यों है
उसे कोई अच्छा क्यों नहीं लगता
वह और औरतों की तरह क्यों नहीं है
क्यों नहीं हँसती, खिलखिलाती
बतियाती सबके साथ, सबके बीच
उसने क्यों चुना है अकेलापन
जो भी अकेलापन भेदने जाता है
अकेलापन बिफर जाता, गुराता है
समझ में यही आता है
अकेलापन अकेला नहीं है
वह न जाने कैसे-कैसे दर्द
कैसी-कैसी पीड़ाओं से भरा है
अकेलापन अनाथ नहीं
कि कोई उसे आश्रय दे
न ही चरित्रहीन
कि कोई उसके साथ सोने की कोशिश करे
अकेलापन एक निर्णय है
हर अकेले का।

एक दिन मैं भी

घर में सिकुड़ती जा रही जगह ने
आज कर दी घर-बाहर
कभी घर की शान रही
दादाजी की हरक्यूलस साइकिल
जब भी देखता था
उसके डंडे पर बैठने की स्मृतियाँ
जीवंत हो उठतीं
बड़े-बड़े वॉल वाला विशाल टीवी जैसा
बिजली का रेडियो,
रिकॉर्ड प्लेयर, काले-काले बड़े रिकॉर्ड
देखते ही जिन्हें
गाने लगते स्मृतियों में कुंदन लाल सहगल
बेगम अख्तर, तलत साहब, हेमंत कुमार
याद आता सिलोन, ऑल इंडिया रेडियो
विविध भारती का जयमाला
आकाशवाणी पर समाचार पढ़ते
देवकी नंदन पाण्डे
बच्चन के शब्द उधार लूँ तो

संपर्क : मो. 9413265800
ई-मेल : navneetpandey.bik@gmail.com

● पाँच कविताएँ : निखिलेश्वर प्रसाद वर्मा



नदी

एक

एक बूँद का अंतस में गिरना
और यकायक ही
नदी की तरह फैल जाना
यह तुम नहीं हो तो और क्या है
वो

जब कभी
समय बन जानता है पर्वत
और डस लेते हैं
अवसाद, द्वंद्व, पराजय हताशा के
दंश
मेरे अंतस में तुम्हारा
नदी की तरह बहना
ही तो देता है संबल
तीन

बस
तुम्हारा यह कह देना
'हम नहीं जानते हैं'
और बाँहों में निठाल हो जाना
ठहर गया क्षण
चढ़ गया टेसू का रंग
आँखों में आ ठिठका
संवेदनाओं का बादल

चार

कसक घुलने लगी
तुम
एक नदी की तरह
मेरे अंदर फैलती चली गई
हमारी उँगलियों ने
एक-दूसरे को छुआ
और बहने लगी एक नदी
दोतरफ़ा धार की
इस नदी का
कोई नाम नहीं है

पाँच

नदियों ने
शहर बसाए
शहरों का विकास
होता गया
पर नदियाँ
सिकुड़ती गईं।

वे दोनों

जब मिले
चुप्पी का एक जलजला उठा
और ढह गए खतों के पुल

स्थिर अधर/शून्य नयन/बर्फ़ होता बदन
चलता रहा सिर्फ़ समय
वे दोनों
सिर्फ़ खतों के लिए ही
बने थे।

जेठ की दोपहर

जेठ की दोपहर
चढ़ आया कुछ और भी सूरज
वैसे भी

क्या पूस, क्या आषाढ़
क्या सावन और क्या बैसाख
सारे मौसम
हो रहे एक समान

तपता आकाश
धरती रही दरक
सुस्ताने के लिए

छाँव की तलाश में
लकड़हारा
ढूँढ़ रहा दरख़्त।

गुज़र रहा साल

अभी तो बैठा था
यहीं
बेंच पर
मेरे बग़ल में
गुज़र रहा साल
किसी प्रतीक्षारत यात्री की तरह
हो रही सुबह के
कोहरे में
ट्रेन आकर चली गई
और खो गया
गुज़र रहा साल
उसके धुएँ में।

जीजीविषा

कोपलों, शाखों, पंखुरियों, दूबों
पर अटकी बूँदें
मिल जाएँगी खाक में
या फिर
धूप की गमी से
उड़ जाएँगी भाप बनकर
बस तुरंत ही
पर अभी
उनसे गुज़रने वाली किरणें
बन रही
इंद्रधनुष हैं।



मनबसंत

झर रहे पीले सगुन, देह से नीम के
गा रही मधुर सुर में बाँसमंडली मंगलगान
देह-जोड़ों से सरसों के छुवा-छुवाकर
कुंवारी पुरवाई हल्दी-दूब चूम रही
सिलमायन की कढ़ी तई फुलौरी छान रहे
बड़हल रसोइया
मुँह बाए चुआए राल, खड़े ललचाए हैं बच्चे
न्यौतहरी दूर से

चौक पूरती भटकइया आँख गड़ाए झुकाए
चुटकी ग्रीवा और कटि
सजाए सपने सुहागन साजन के
बैठी है माइव सरसों पहिने पियरी
बैंगनी लहंगा पहन झूमती इठलाती मदमाती
बलखाती
अपनी छुटकी, अरसी बनठन के
अधहोंठ लजाते मुस्कते अधहोंठ
सौंफ छबीले मौरी बाँधे ठाड़े जनवासे में
नेगचार पे झूमूट का ठनगन फाने
करा रही है मान-मनौवल चना-ई नाउन

डोला धामे ठाड़े कहार चार
चढ़ी बैठी जोहती सेमिया रानी
हथेली दहेंडी उठाए सास की आवन
पाँव पड़े देहरी दुलहिन के अँट-बँट रहे
घर-घर पाहुन
सुख सलिविया बिछे हैं ऐसे
सजी सुहागरात की सेज हो जैसे
हँसी-बतकही फाने सब गोइया बैठीं
गेंदा गुल्बी, डहेला गुलदउरी

मटर नवब्याहता पेट से है
दिन-रैन टहल बजावत भरतार
फिर निबुआ बैठी है सउरी
सहिजन आए हैं लइके बधाव
छिड़काव दवा की हो रही ये, या कि बच्चे
का टीकाकरण

कौन भँडुवा छेड़ के भागा चलत राह
बतगड़ बना बना रही ये बयार सामंती समाज
सी
गँव-गली चली गँधाय बेकसूर धनिया
घिरी रहती चाहने वालों से दिन-रैन
हरे देह उबटन लगाए गमक रही

बेरी के चरित्र पर धर के छिनारा
सरपंच बना बैठा है लहसुन कुटना
है बैठी मर्दों की पंचाइट आलू के दौड़े

रिश्ते का गोजई नाम धराए
लिव-इन में हैं गेहूँ और जई
आफ्रत सी परीक्षा बोर्ड की सवार सिर पे
झूल रहे सागौन के चेहरे टेंशन के गुच्छे
युग फरवरी के आशिक ई बोगेनवेलिया
इतना सुंदर गुलदस्ता लिए किसे कर रहा प्रपोज
गुत्थमगुत्था हैं दो सखियाँ निजी पलों में
स्मूच रही तितली फुलगेंदवा संग लिपलॉक किए

नाप रहा है औना-पौना किसको ये कोटेदार
धतूरा
आस्था का कोरोसीन, सफेद कुप्पी से
सिरसवार है लासा बाँधे पाला महाजन-सा
गरीब की उम्मीद सी अमराई झर रही
फलनिया के दुःख सा बथुई फुला रही।
हो रही कुटाई बड़के गुंडा मघऊ मिर्च की
खल-बट्टे के जनतंत्र में न्याय का उत्सव है
आज।

काश, कि तुम जी पाती मेरी जान (क)

एक रोज वो उठा लाए रिश्ते की जुआठ
और धर दिए हम दोनों के कंधों पर
उम्रभर के लिए नाथ देने की खातिर

उसके मालिक ने मेरे मालिक से
उसके गुणों को बखाना अवगुणों को ताया-तोपा
मेरे मालिक ने मेरे गुणों को गाया-बजाया
यकायक जुआ पुजाई लेखे हुई हमारी सगाई
पहली बार एक दूजे को झपकती पलकों से
देखा हमने
एक दूजे को हुआ अपने घावों की तरह
एकदूजे को महसूस ठंडे पानी में जेठ के राही के
तप्त पाँवों की तरह
लम्हों के रंगीन सिकहुले में छुअनों को समेटा
हमने चैत में चुए महुए की तरह
और फिर चौमास की दुहाई देकर
बाँध दिए गए हम, दो खूँटे सा शहरों में

(ख)
फ्रसलों के दरमियाँ करते रहे हम शब्दों की
जुगाली
कभी एसएमएस, कभी फोनकॉल कभी वाट्सअप पर

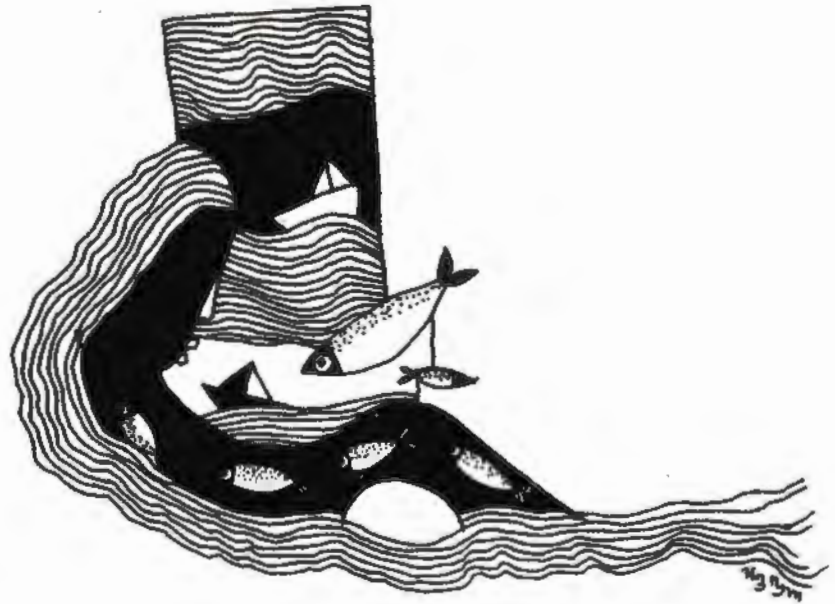
अपनी बातें कम, दुनियादारी की ज्यादा
शायद हिम्मत न थी या संकोच या संस्कार के
चलते

“कुछ इस तरह तेरी पलकों मेरी पलकों से मिला दे
औसू तेरे सारे मेरी पलकों पे सजा दे”
वाट्सअप पर भेजे इस गाने में
स्वर किसी और के थे, शब्द किसी और के
पर भाव और अहसास उसके अपने थे
ये बढ़िया रास्ता तलाशा था उसने
मैं भी इसी रास्ते हो लिया
और डाउनलोड करके भेज दिया
“कितनी हसरत है हमें तुमसे दिल लगाने की
पास आने तुम्हें जिंदगी में लाने की”

इस तरह अपनी भावनाओं व अहसासों को गानों
में खोजते हुए
अब ज्यादा गाना सुनने लगे थे हम
और एक जीबी डाटा पंद्रह दिन चलाना मुश्किल
होने लगा
फ्रेन पर देर तक बतियाना भी जेब की सामर्थ्य
से परे
बात करने का बहुत मन होते हुए भी
कई बार एकदम खाली होकर भी बहुत व्यस्त
होने के बहाने बनाने पड़ते

उस रोज मेरे भीतर बहुत तेजी से उमड़ी एक
भावना और मैंने कहा
तुम्हारे जीवन के हर मोड़ को एक खूबसूरत
क्रिस्सा देना चाहता हूँ मेरी जान
सुनकर चिड़िया-सी चहक उठी तुम
और कई कई दफ़ा तुमने आई लव यू कहा था
जबकि मैं खामोशी से महसूसता रहा उस दरमियान
तुम्हारी साँसों की हरकतों को
कई बार तुमने कहा आई लव यू का रिप्लाय भी
कुछ होता है मेरे जानू
मैंने कहा सन्न करो मेरी जान कि
पहली बार जब भी कहूँगा ये अलफ़ज़,
तुम्हारे रूबरू कहूँगा
बाँहों में भरकर, सीने से लगाकर। □

• तीन कविताएँ : जसवीर त्यागी



बचाकर रखना चाहता हूँ तुम्हें

पतझड़ में दरख़्त बचाए रखते हैं
अपने अंदर हरीतिमा

जैसे प्रेमी दुनिया की आँखों से
बचाकर रखता है अपना प्रेम पत्र
मैं बचाकर रखना चाहता हूँ तुम्हें

बेरोज़गारी के दिनों में
कोई किताब में छुपाकर रखता है सौ का नोट

सीमा पर लड़ता हुआ सिपाही
जैसे सँभालकर रखता है
बंदूक और गोली

जेठ माह की लंबी यात्रा में
यात्री बचाकर रखता है दो घूँट जल

दिनभर की भागमभाग
थकान और ऊब के बावजूद
माँ रात में शिशु के लिए
बचाकर रखती है कोई लोरी

वैसे ही मैं भी अपने संघर्षों की
लड़ाई लड़ता हुआ
बचाकर रखना चाहता हूँ तुम्हें

अपने हृदय के किसी अज्ञात कोने में।

हाथ

एक हाथ वे हैं
जो मरणासन्न आदमी में
ले आते हैं जीवन

दूसरे वे
जो मासूम निरपराध लोगों की
कर देते हैं निर्मम हत्या

एक हाथ वे हैं
जो चूल्हे में आग फूँकते हैं
दूसरे वे
जो एक ही झटके से
नष्ट कर देते हैं चूल्हे

एक हाथ वे हैं
जो इतिहास के पन्नों पर
लिखते हैं जीवन की कविता

दूसरे वे
जो इतिहास को
फेंक देते हैं समंदर में

दुनिया में दो तरह के हाथ हैं

एक वे जो निर्माण करते हैं
और दूसरे वे जो विनाश करते हैं

अपने दिल पर रखकर हाथ
सच-सच बताइए

आप
किस तरह का हाथ रखते हैं?

समय-शूरवीर

रुको समय-शूरवीर
रुको
अभी मत साधो बाण

मेरे जीवन के रथ का पहिया
धँस गया है
संकट के भूतल में

उबार लेने दो
हिम्मत के हाथों से पहिया

मैं जानता हूँ
जीवन के महाभारत में
तुम्हारे पास
बाण साधने का
यह सुनहरा अवसर है

तुम्हें ही तय करना है
चाहो तो बाण चलाकर
इतिहास दोहरा सकते हो

या फिर किसी निहत्थे पर
वार न करके
एक नया इतिहास
बना भी सकते हो

समय-शूरवीर
सोचो इतिहास बनना है
या इतिहास बनाना है।

□

लघु पत्रिकाएँ : अवधारणा और परंपरा

भारत भारद्वाज

हिन्दी साहित्यिक पत्रकारिता का आरंभ उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारतेन्दु हरिश्चंद्र के व्यक्तिगत प्रयास से हुआ खड़ी बोली आंदोलन के साथ। हिन्दी नई चाल में ढली तब कविता की भाषा ब्रजभाषा थी। ब्रजभाषा को अपदस्थ करके खड़ी बोली हिन्दी में कविता लिखने की शुरुआत हुई। साथ ही साथ कहानी को छोड़कर गद्य की अनेक विधाओं—उपन्यास, नाटक, समीक्षा, व्यंग्य आदि में रचनाएँ लिखी जाने लगीं। भारतेन्दु ने चार पत्रिकाओं—‘कवि-वचन-सुधा’ (1867), ‘हरिश्चंद्र मैगज़ीन’ (1874), ‘श्री हरिश्चंद्र पत्रिका’ (1874), ‘बाला बोधिनी : स्त्री जन की प्यारी’ (1874) का संपादन किया। भारतेन्दु युग में अन्य साहित्यकारों द्वारा संपादित महत्वपूर्ण पत्रिकाएँ थीं—पं. रुद्रदत्त शर्मा ‘भारत मित्र’, (1877), पं. बालकृष्ण भट्ट ‘हिन्दी प्रदीप’, (1877), बदरीनारायण चौधरी ‘प्रेमधन’, ‘आनंद कादम्बिनी’, (1881), पं. सदानंद मिश्र ‘सार-सुधा निधि’, (1878), दुर्गाप्रसाद मिश्र ‘उचित वक्ता’, (1878) और प्रताप नारायण मिश्र ‘ब्राह्मण’, (1883)। ये सभी पत्रिकाएँ लेखकों के व्यक्तिगत प्रयास से ही निकली थीं। प्रसिद्ध आलोचक रामविलास शर्मा भारतेन्दु युग को हिन्दी नवजागरण का पहला चरण मानते हैं। 1857 के विद्रोह में पराजित भारतीय जनता में, खासकर हिन्दी प्रदेशों में इन पत्रिकाओं ने राजनैतिक चेतना जगाने के साथ उनमें देशभक्ति की भावना का भी संचार किया। कार्लमार्क्स ने 1857 के विद्रोह को ‘भारतीय स्वाधीनता का प्रथम युद्ध’ कहा है। भारतेन्दु-युग में निकली पत्रिकाओं का महत्व राजनैतिक की नहीं, साहित्येतिहासिक दृष्टि से भी कम नहीं है। राजनैतिक जागरूकता के साथ खड़ी बोली हिन्दी कविता का जन्म और गद्य की अनेक विधाओं के आरंभ के साथ बड़ा काम यह हुआ कि ‘हिन्दी प्रदीप’ के संपादक पं. बालकृष्ण भट्ट ने पहली बार साहित्य को परिभाषित किया। जुलाई 1881 में अपनी पत्रिका में उनका एक लेख प्रकाशित हुआ—‘साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है’ उल्लेखनीय बात यह है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने ‘हिन्दी साहित्य का इतिहास’ (1929) में इसी परिभाषा को आधार बनाकर साहित्य को पुनः परिभाषित किया। यहाँ स्पष्ट करने की जरूरत है कि भारतेन्दु युग में निकली कुछ पत्रिकाओं का आर्थिक ढाँचा जब लड़खड़ाने लगा तब खड़ग विलास प्रेस, बाँकीपुर पटना के साहित्यप्रेमी और सहृदय प्रकाशक बाबू रामदीन सिंह ने इनमें से कुछ पत्रिकाओं के प्रकाशन का भार अपने कंधे पर ले लिया। इन पत्रिकाओं में एक पत्रिका ‘ब्राह्मण’ भी थी।

वस्तुतः हिन्दी पत्रिकाएँ लेखकों के व्यक्तिगत प्रयास से ही नहीं, संस्थाओं और प्रकाशकों के सहयोग से भी निकलती रही हैं। द्विवेदी युग में इलाहाबाद के इंडियन प्रेस से चिंतामणि घोष के प्रयास से और काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से मासिक ‘सरस्वती’ का प्रकाशन 1900 ई. में शुरू हुआ। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लगभग बीस वर्षों तक ‘सरस्वती’ का संपादन किया। आचार्य द्विवेदी मात्र भाषा संशोधक नहीं थे। खड़ी बोली हिन्दी कविता को उन्होंने स्थापित किया। वे नई प्रतिभाओं की खोज करते थे। उन्होंने मैथिलीशरण गुप्त जैसे कवि और रामचंद्र शुक्ल जैसे आलोचक को हिन्दी साहित्य संसार में प्रतिष्ठित किया। वे बड़े संपादक ही नहीं, खुद लेखक भी थे। ‘संपत्ति शास्त्र’ जैसी पुस्तक उन्होंने लिखी। ‘सरस्वती’ अपने समय की एक बड़ी लोकप्रिय पत्रिका थी और इसमें छपने के बाद लेखक को स्वीकृति मिल जाती थी। इस युग में निकली अन्य महत्वपूर्ण पत्रिकाएँ थीं—‘समालोचक’ (1902), ‘इंदु’ (1909), ‘अभ्युदय’ (1905), ‘प्रताप’ (1913), ‘कर्मयोगी’ (1914) आदि। द्विवेदी युग हिन्दी साहित्यिक पत्रकारिता का एक महत्वपूर्ण अध्याय है।

1920 के बाद जो महत्वपूर्ण पत्रिकाएँ निकलीं उनमें प्रमुख हैं—‘माधुरी’ (1923), ‘चौद’ (1923), ‘मतवाला’ (1923), ‘सुधा’ (1927), ‘विशाल भारत’ (1928), ‘हंस’ (1930), ‘गंगा’ (1930), ‘संगम’ (1942), ‘रूपाभ’ (1938), ‘आजकल’ (1945), ‘प्रतीक’ (1947) आदि। आज़ादी के बाद निकली पत्रिकाओं में उल्लेखनीय हैं—‘कल्पना’ (1949), ‘नई धारा’ (1950), ‘आलोचना’ (1951), ‘नई कविता’ (1954), ‘अवतिका’ (1956), ‘लहर’ (1958), ‘कृति’ (1958), ‘अजंता’ (हैदराबाद), ‘विश्वज्योति’ (पंजाब), ‘कहानी’ (1954) और ‘हंस’ का आखिरी अंक अमृतराय और बालकृष्ण राव के संपादक में 1957 में प्रकाशित हुआ साहित्य संकलन-1 के रूप में। आज़ादी के आसपास ही ‘धर्मयुग’ और ‘साप्ताहिक हिंदुस्तान’ जैसी पत्रिकाएँ व्यावसायिक प्रतिष्ठानों से निकलीं। टाइम्स ऑफ़ इंडिया की मासिक पत्रिका ‘सारिका’ और राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली की पत्रिका ‘नई कहानियाँ’ 1960 के आसपास निकलीं।



लघु पत्रिका पर टिप्पणी करने के लिए हिन्दी साहित्यिक पत्रकारिता के प्रकाशन के इतिहास का विवरण देना इसलिए जरूरी लगा कि हम ठीक से जान सकें कि हिन्दी पत्रिकाएँ लेखकों के व्यक्तिगत प्रयासों से ही नहीं, व्यावसायिक संस्थानों से भी निकलती रही हैं। वस्तुतः साहित्यिक पत्रिकाओं की परंपरा का यह इतिहास है। इससे हमें पता चलेगा कि हम लघु पत्रिका को कैसे परिभाषित करें। यह मुश्किल काम है। यहाँ परंपरा, इतिहास और अवधारणा में भारी द्वंद्व और टकराव है।

लघु पत्रिका जिसे शुरू में छोटी पत्रिका की संज्ञा से भी अभिहित किया गया, का आरंभ सातवें दशक के आरंभिक वर्षों में हुआ। पश्चिम में कुछ समय पहले ही Little Magazine का आंदोलन शुरू हुआ था। यह आंदोलन सत्ता के व्यावसायिक प्रतिष्ठानों से निकल रही बड़ी पत्रिकाओं के प्रतिरोध में शुरू हुआ। इसके अगुवा थे अमरीकी कवि एलेन गिंसवर्ग, जिन्होंने 'हाऊल' जैसी कविता लिखी थी। सातवें दशक के आरंभ में वे भारत आए थे पहले बनारस और फिर कलकत्ता। उन्होंने सत्ता व्यवस्था का ही नहीं सामाजिक मर्यादा और गरिमा का भी प्रतिरोध और निषेध किया। यही नहीं तमाम सामाजिक मूल्यों को भी वे एक सिरे से खारिज कर रहे थे। यह अकारण नहीं था कि उनके प्रभाव में हिन्दी और बांग्ला के उभरते हुए क्रांतिकारी कवि-लेखक आ गए। उनके प्रभाव में हिन्दी-बांग्ला में नंगी पीढ़ी, भूखी पीढ़ी और शमशानी पीढ़ी और अकविता और अकहानी आंदोलन का आरंभ हुआ। साहित्यिक विधाओं में भारी तोड़फोड़ शुरू हुई। हिन्दी और बांग्ला के क्रांतिकारी लेखक न केवल उनके प्रभाव में बहे जा रहे थे बल्कि वे पूरी व्यवस्था और साहित्य के स्थापित स्वरूप और मूल्यों को नष्ट करने पर उतारू थे। आरंभ में हिन्दी लघु पत्रिका आंदोलन की दिशा गिंसवर्ग ने तय की। अकविता और अकहानी से ही नहीं लघु पत्रिका के प्रकाशन से। यह दिलचस्प बात है कि एक विदेशी अमरीकी कवि ने सातवें दशक के साहित्य परिहास को अपने प्रभाव से बदल दिया। यह लघु पत्रिका आंदोलन की अवधारणा है।

लघु पत्रिका को परिभाषित करना मुश्किल है। (स्व.) डॉ. परमानंद श्रीवास्तव मानते हैं कि व्यक्तिगत प्रयासों से निकलने वाली पत्रिका लघु पत्रिका है। यदि हम उनकी परिभाषा की व्याप्ति में जाएँ तो भारतेन्दु युग से छठे दशक में व्यक्तिगत प्रयास निकलने वाली तमाम पत्रिकाएँ लघु पत्रिकाओं के घेरे में आएँगी। मुश्किल यह है कि लघु पत्रिका को ठीक से कैसे परिभाषित किया जाए! यह एक बड़ा सवाल वर्तमान के साथ अतीत से भी जुड़ा हुआ है। साथ-साथ परंपरा और अवधारणा से भी।

दूसरी ओर हिन्दी के एक अन्य प्रतिष्ठित आलोचक नंदकिशोर नवल लिखते हैं—“लघु पत्रिका को कई बार परिभाषित करने की कोशिश की गई, लेकिन हर बार परिभाषा अव्याप्ति या अतिव्याप्ति दोष का शिकार हो गई। ऐसी स्थिति में लघु पत्रिका की एक लचीली परिभाषा से ही काम चलाया जा सकता है। यह लेखक या लेखक समूहों द्वारा निकाली जाती है, इसके साधन सीमित होते हैं। इसका प्रसार क्षेत्र संकुचित होता है और यह अनियंत्रित होती है। ये सारी बातें सही हैं लेकिन अनेक बार ऐसा हुआ है कि किसी प्रतिष्ठान या संस्थान से निकलने वाली पत्रिका का चरित्र भी लघु पत्रिका वाला रहा है। ताज़ा उदाहरण के लिए कंदारनाथ सिंह द्वारा संपादित 'साखी' पत्रिका है, जो प्रेमचंद संस्थान, गोरखपुर से निकलने के बावजूद एक लघु पत्रिका है। कुछ पत्रिकाओं के पीछे लेखक-संगठनों का यंत्र सक्रिय रहा है, भले उन्होंने प्रकट रूप से उन्हें अपना मुखपत्र होने की घोषणा न की हो। ऐसी पत्रिकाओं में 'पहल', 'कलम' आदि पत्रिकाएँ आएँगी। दैनिक 'राष्ट्रीय सहारा' के 28 जून, 2009 में दिनेश कुमार ने 'लघु पत्रिकाएँ : स्वर्णिम अतीत, दुखद वर्तमान' पर एक परिचर्चा आयोजित की थी। लघु पत्रिका आंदोलन का वस्तुनिष्ठ विश्लेषण करते फिर नवल कहते हैं—“लघु पत्रिकाओं की शुरुआत सातवें दशक से होती है। उस समय

इनकी सीधी लड़ाई सरकारी और गैर-सरकारी प्रतिष्ठानों से निकल रही पत्रिकाओं से थी। एक पूरी क्रांतिकारी पीढ़ी सामने आई थी, जिन्हें ये पत्रिकाएँ महत्व नहीं देती थीं। फलस्वरूप इन लोगों ने अपनी अभिव्यक्ति को स्वर देने के लिए खुद की पत्रिकाएँ निकालीं लेकिन धीरे-धीरे इन लघु पत्रिकाओं से जुड़े लोग इन पत्रिकाओं को सीढ़ी बनाकर बड़े प्रतिष्ठानों की उन्हीं पत्रिकाओं में जाने लगे जिनके विरुद्ध उन्होंने लघु पत्रिका निकाली थी। दूसरी बात यह हुई कि ये पत्रिकाएँ व्यक्तिगत राग-द्वेष का माध्यम बनते हुए शत्रुता और मित्रता निभाने का मंच बनने लगीं अर्थात् गंभीर साहित्यिक सरोकार कम होता गया। तीसरी और सबसे दुःखद बात यह हुई कि लोगों ने इन पत्रिकाओं को अपना व्यवसाय बना लिया और नौकरी न करने की क्षतिपूर्ति इन पत्रिकाओं से की जाने लगी। सारी ऊर्जा भारी-भरकम विज्ञापन जुटाने में खर्च होने लगी। इसका परिणाम यह हुआ है कि आज सारी पत्रिकाएँ मोटी हो गई हैं।”

यह सच है कि सातवें दशक में एक बड़ा लघु पत्रिका आंदोलन शुरू हुआ, इसकी परिणति क्या हुई, इसके बारे में बाद में बात करेंगे लेकिन सातवें और आठवें दशक में इस आंदोलन ने संपूर्ण हिन्दी साहित्य को झकझोर दिया था। उस दौरान निकली कुछ पत्रिकाओं का उल्लेख प्रस्तुत है—‘अकविता’ (जगदीश चतुर्वेदी), ‘आमुख’ (कंचन कुमार), ‘आवेश’ (रमेश वक्षी), ‘आरंभ’ (विनोद भारद्वाज), ‘ध्वज भंग’ और ‘सिर्फ’ (नंदकिशोर नवल), ‘वाम’ (चंद्रभूषण तिवारी), ‘कलम’ (चंद्रबली सिंह), ‘पहल’ (ज्ञानरंजन), ‘उत्तरार्द्ध’ (सव्यसाची), ‘क्यों, वयम, ओर’ (विजेन्द्र), ‘धरातल’ (नालंदा), ‘कथन’ (रमेश उपाध्याय), ‘प्रतिमान’ (शाहजहाँपुर), ‘संप्रेषण’ (चंद्रभानु भारद्वाज), ‘संबोधन’ (कमर मेवाड़ी), ‘पुरुष’ (प्रियकांत), ‘युयुत्सा’ (कलकत्ता), ‘वर्तमान साहित्य’ (विभूतिनारायण राय), ‘कथा’ (मार्कण्डेय), ‘हंस’ (राजेश यादव), ‘कथादेश’ (हरिनारायण), ‘कसौटी’ (नंदकिशोर नवल), ‘पूर्वग्रह’ और ‘रूपाभ’ (अशोक वाजपेयी), ‘समकालीन सृजन’ (सं-शंभुनाथ) और ‘तद्भव’ (सं-अखिलेश) आदि। यह बीसवीं सदी के अंतिम दशक तक निकलने वाली पत्रिकाओं की सूची है।

यह है कि इसने अपने समय की युवा रचनाशीलता को रेखांकित किया। आज जितने बड़े कथाकार कवि-आलोचक और लेखक हैं, सभी लघु पत्रिका आंदोलन की उपज हैं। इस अर्थ में लघु पत्रिकाओं की ऐतिहासिक भूमिका और महत्वपूर्ण योगदान है।

लघु पत्रिका की सबसे बड़ी उपलब्धि

कथाकार प्रियंवद ने दैनिक जनसत्ता के 5 जुलाई, 2009 में एक टिप्पणी लघु पत्रिका पर लिखी जिसमें उन्होंने लघु पत्रिका की प्रतिबद्धता और प्रतिरोध का उल्लेख किया था लेकिन आगे वे भटक गए। मुझे लगता है, लघु पत्रिका आंदोलन जिस उद्देश्य से शुरू हुई थी, उसने कालांतर में अपना रास्ता बदल लिया। इसे रास्ते पर लाने और पत्रिकाओं के बीच समन्वय स्थापित करने के लिए पहले जयपुर में, फिर आजमगढ़ में और अंतिम प्रयास जब शंभुनाथ, आगरा हिन्दी संस्थान में निदेशक थे। इस तरह तीन बड़े आयोजन किए गए। लेकिन ढाक के तीन पात। इस बीच ज्ञानरंजन और शंभुनाथ ने मिलकर लघु पत्रिकाओं के संपादकों को एक मंच पर लाने और पत्रिकाओं के संयोजित अंक को पुनरावृत्ति से बचाने के लिए बुलेटिन निकाली थी। लेकिन कहीं कोई पता नहीं हिला। लघु पत्रिका आंदोलन की जिस तरह परिणति हुई, वह बेहद दुखद है। आज भी मेरे जानते देश के कोने-अंतरे गाँव कस्बा, शहर, महानगर से लगभग 150-200 लघु पत्रिकाएँ निकल रही हैं लेकिन अधिकांश संपादकों में न संपादकीय विवेक है और न ही रचना की स्तरीयता। बस, संपादक की अपने को स्थापित और प्रतिष्ठित करने की भूख और ललक है। फ्रांस की राज्यक्रांति का दुखद अंत हुआ और इसी तरह रूसी क्रांति का भी। यदि लघु पत्रिका आंदोलन का यह दुखद हथ्र हुआ तो बिल्कुल हैरानी नहीं है। □

भारत में ममी

राधाकांत भारती

संसार के प्राचीन संस्कृतियों वाले देशों में भारत की गणना होती है। विशेषकर सनातन धर्म (हिन्दू) तथा बौद्ध धर्म को लेकर भारत की एक अलग पहचान रही है। यह भारत वर्ष ही है, जिसने सर्वप्रथम विश्व बंधुत्व की भावना को वाणी दी—

अयं निजः परोवेति, गणना लघु चेतसाम्।

उदारचरितानाम् तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

ऐसा उदारतावादी धार्मिक दृष्टिकोण अपनाकर देवतुल्य मुनियों ने परमार्थ में विश्वास पैदा करने का उपदेश दिया। इन्हीं आचार्यों ने जन्म-जन्मांतर की बात भी कही और हजारों साल पहले ही पूर्वजन्म तथा जन्मांतर की सटीक व्याख्या की थी। ऐसे देवतुल्य आचार्य द्वारा मृत्यु का पूर्वाभास होने पर समाधि लेने की प्रथा आदि प्रचलित रही है जिसके प्रमाण भारतवर्ष के अनेक तीर्थस्थलों पर अब भी उपलब्ध हैं।

इस संदर्भ में उल्लेखनीय है कि ममियों का देश कहलाने वाले में मृत देह को सहेज कर रखने और ममी बनाने का मुख्य उद्देश्य था कि महाप्रलय के बाद उनमें प्राण का संचार होगा और वे जीवित हो उठेंगी। ऐसे विश्वास के वशीभूत होने के कारण वहाँ के पिरामिडों में मृत देह के साथ वैभवपूर्ण जीवन-यापन के लिए वस्त्रादि के साथ सिंहासन तथा भोग विलास की सामग्री भी रखी जाती थी।

किंतु भारतीय संदर्भ में पूर्वजन्म तथा जन्मांतर का सिद्धांत सर्वथा भिन्न प्रकार का है। इसमें व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं बल्कि जनकल्याण की गौरवपूर्ण भावना निहित है। जिसके गौरवमय उदाहरण शंकराचार्यों तथा बौद्ध लामाओं की पावन परंपरा है।

बौद्ध धर्म की गौरवमय परंपरा के जन्मदाता होने का श्रेय कपिलवस्तु के युवराज सिद्धार्थ गौतम को है। उन्होंने कठिन तपस्या के बाद महाज्ञान की प्राप्ति की तथा गौतम बुद्ध कहलाए। उल्लेखनीय है कि ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया के साथ उन्हें अपने पूर्वजन्मों के कार्यों का भी दर्शन हुआ जिसे बोधिसत्व परंपरा कहते हैं। करीब तीन हजार वर्ष पहले प्रारंभ होने वाले इस विश्वव्यापी धर्म का प्रचार-प्रसार काफ़ी तेज़ी से हुआ किंतु भारतीय उपमहाद्वीप में इसे सनातन हिन्दू धर्म का सहभागी माना हो जाता है।

वर्तमान संदर्भ में सर्वत्र स्वीकार्य पुनर्जन्म के दिव्य उदाहरण के रूप में दलाई लामा की परंपरा है। मान्यता है कि दलाई लामा के रूप में बोधिसत्व पुनः जन्म ग्रहण करते रहे हैं। यह बात दलाई लामा की मृत्यु के बाद सवा वर्ष के उपरांत होती है जिसमें कि परंपरा अनुसार नये महालामा का चयन किया जाता है। इस पद्धति के अनुसार जिस समय दलाई लामा की मृत्यु होती है तो उसके पार्थिव शरीर को संघाराम में सुरक्षित रखकर संपूर्ण जगत से सूचना माँगी जाती है कि कहाँ पर किस परिवार में उस तिथि और समय पर बालक ने जन्म लिया है। इसके सवा साल बाद फिर धार्मिक अनुष्ठान तथा मंत्रों के उच्चारण के साथ लामाओं के समूह द्वारा चयनित बालक को नये दलाई लामा के प्रतिष्ठित पद पर स्थापित किया जाता है।

वर्तमान दलाई लामा—बौद्ध धर्म के वर्तमान दलाई लामा परम-पावन तेजिंग ग्यारसो हैं जो बौद्ध परंपरा में चौदहवें महागुरु हैं। मूलरूप से ये गुलेग समूह के हैं जिन्हें तिब्बत की राजधानी ल्हासा में चौदहवें महागुरु के रूप में प्रतिष्ठित किया गया था। ऐसी मान्यता है कि दलाई लामा अवतारी पुरुष हैं, उनके रूप में करुणा के देवता अवलोकितेश्वर ही अवतार ग्रहण करते हैं जो संसार के लोगों का दुख-दर्द हरण किया करते हैं। तिब्बत में 19वीं सदी तक सब कुछ शांति तथा धार्मिक सद्भाव के साथ चल रहा था कि 20वीं सदी के मध्य में चीन की कुदृष्टि तिब्बत पर पड़ी। चीनी फ़ौज ने क्रूरता के साथ तिब्बत भूमि को पददलित किया। तिब्बत की जनता त्राहि-त्राहि करने लगी। भारत ने एक अच्छे पड़ोसी देश के नाते शांति प्रस्ताव भेजा, जिसकी कोई सार्थक प्रतिक्रिया नहीं मिली। दारुण परिस्थितियों में विवश होकर परम पावन दलाई लामा को अपने परिवार तथा शिष्य समूह के साथ भारत-भूमि की ओर प्रस्थान करना पड़ा।

31 मार्च, 1959 को लोकतांत्रिक देश भारत ने परम पावन दलाई लामा तथा उनके परिवार और गुरु तथा शिष्य समूह का सादर अभिनंदन किया तथा स्वागत समारोह के साथ मैकलोडगंज (धर्मशाला) के पास सुरम्य स्थल पर उनके निवास तथा मुख्य कार्यालय का समुचित प्रबंध कर दिया है।

पिछले साल में ध्यानावस्था में दलाई लामा के गुरुदेव का निधन हो गया। अब एक साल बाद उन्हें ममी के रूप में धर्मशाला में स्थापित कर दिया गया है। □



संत कवियों की कविताओं में लोक-संस्कृति

अखिलेश आर्येन्दु

हिन्दी साहित्य के इतिहास में मध्यकाल को भक्तिकाल के नाम से जाना जाता है। इस काल में भारतीय संतों ने अपनी वाणियों और कार्यों से समाज सुधार, धर्म सुधार, अध्यात्म प्रचार और ज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिए अनगिनत कार्य किए। संतों ने घर-परिवार, ऋतु कृषि के साथ ही साथ ऋतु-परिवर्तन और समाज की विसंगतियों को सहज भाव से अपनी कविताओं में वर्णित किया। यही कारण है आज भी संत कबीर, रहीम, दादू दयाल, मलूकदास, मीराबाई, सूरदास और रविदास की कविताएँ विश्व साहित्य में इंगित हैं और अत्यंत श्रद्धा के साथ सुनी-गुनी जाती हैं।

प्रस्तुत है संत कबीर की कुछ पंक्तियाँ—

जतन बिन भृगुनि खेत उजारे। / टारे टरत नहीं निस बासुरि, बिडरत नहीं बिडारे॥ / बुधि कबीर अब खान न दैहैं, गुर बिभुका, आखिर दोइ रखवारे। / कहै कबीर अब खान न दैहैं, बरियाँ भली सँभारे॥ (क.प्र.पद 396)

संत हरिदास निरंजनी की वाणियों में भी कृषि, गृहस्थी और ऋतु के माध्यम से मानव जीवन को सफल बनाने पर जोर दिया गया है। हरिदास निरंजनी की यह वाणी देखिए—

संतों! खेती की रुति आई। / औसर इसौ बहोड़ि नहिं लाधै, अब जीत्या ज्यां वाही। / धरती सुड़ि झाड़ अलसोदया, विरहा अग्नि जलाई। / सुबुधि भौमि राम जल वूटा, यूं बाड़ी बनि आई॥ / हाली भला भली सज सगली, एक मतै बहै लागा। / ब्रह्म साखि यूं नीपजि आई, धुर का टोटा भागा। (हरि.वा. मलार पद 1, पृ.248)

संत कवि दादू दयाल ने गृहस्थ जीवन में उद्यम करना महत्वपूर्ण माना है। बिना उद्यम के गृहस्थी नहीं चल सकती है। वह चाहे कृषि, बुनाई या बागवानी हो या अन्य कोई काम लेकिन उद्यम का साधन और साध्य दोनों पवित्र होने चाहिए।

उद्दिम औगुण को नहीं, जो करि जानै कोया। / उद्दिम में आनंद है, जे साईं सेती होया॥ /

(दादू.बा. भा.1, पृ.185)

और संत कबीर के अनुसार / खुलि खेलौ संसार में, बाधि न सकै कोया। / घाट जगाती क्या करै, जो सिर पोट न होया॥ /

(सं.बा.संग., भा.1, पृ.57)

ज्ञानी और चतुर मानव वही है जो अपने आचरण और कार्य से अपना भी हित करे और परहित भी करता चले। केवल बड़ी-बड़ी बातों से जीवन में कुछ भी प्राप्त नहीं होता है। चरित्र की पूँजी पर बल देते हुए कबीर कहते हैं

ग्यानी मूल गँवाइया, आपण भये करता। / ताथै संसारी भला, मन में रहै डरता॥

मध्यकाल के संतों से प्रेरणा लेकर अनेक लोक साहित्य के कवियों ने अपनी कविताओं में कृषि, उद्योग और नौकरी के संबंध में अपने अनुभव लिखे हैं। संत कबीर, मलूकदास, नामदेव, संत अनुभवानंद जैसे अनेक संतों की वाणियों में गृहस्थ जीवन पर जो सपाट बयानी दृष्टव्य होती है, वह निश्चित ही लोक-जीवन को कुंदन बनाने का कार्य करती है। कृषि जीवन का एक अनुभव संत अनुभवानंद के इस मल्हार पद में देखिए—

बसरत अनुभव उमज्यो सावन। / जलथल होय रह्यो सब दरिया, लागे खेत सोहावन॥ / भजन सुभक्ष भयो जीवन को, मिलत रुचे अन्न सावन। / जरे बरे भव दव में प्राणी, सो लागे तपत बुझावन॥ / अनुभव अमृत पान करत ही, होय रहे सब पावन। / बिजुरी बिचार प्रकासे छन छन, गरज विमल गुणगावन॥

(गुज.स.हि.वा. पद 5, पृ.194)

लोकधर्म और लोक-संस्कृति दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। इन्हें सहजता के साथ घर-गृहस्थी निभाते हुए निभाया जा सकता है लेकिन इसमें चार चाँद तब लग जाता है जब परमात्म-चिंतन को भी साथ-साथ किया जाए। संत नामदेव की इस वाणी में इसी ओर संकेत किया गया है—

नामा कहे तिलोचना, मुँखा राम संभालि। / हाथ पाँव कर काम सब, चित्त निरंजन नालि॥

(गु.प्र.सा.पृ.740)

पृष्ठ 48 पर जारी...



भारतीय संविधान के मुख्य शिल्पी : आंबेडकर

डब्ल्यू.एन. कुबेर

विख्यात विद्वान, विशिष्ट शिक्षाविद् पारंगत नेता, प्रभावशाली वक्ता भीमराव आंबेडकर की इस बात के लिए प्रशंसा की गई है कि उन्होंने निष्ठा और अत्यधिक परिश्रम के साथ संविधान सभा में स्वतंत्र भारत के संविधान को पारित कराया। कुछ लोगों ने विचार प्रकट किया कि पूना पैक्ट का एक भागीदार होने के नाते आंबेडकर भारत के प्रत्येक नागरिक को समान अधिकार दिए जाने की व्यवस्था से प्रसन्न थे। एक सदस्य (मद्रास) ने इस बात पर गर्व अनुभव किया कि आंबेडकर की योग्यता को न केवल दलितों ने बल्कि समाज के सभी वर्गों ने स्वीकार कर लिया है। उनकी विद्वतापूर्ण वक्तुताओं की अनेक लोगों ने प्रशंसा की है और शब्द इस विधि-विभूति के प्रति आधार 'प्रकट करने में समर्थ नहीं हैं। यह कहा गया कि वे अपने-आपको केवल अनुसूचित जातियों का नेता ही न समझें बल्कि कांग्रेस में शामिल होकर उसके हाई कमान में स्थान प्राप्त करें जो उनके संकुचित समुदाय के नेतृत्व से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। एच.जे. खांडेकर इस बात से अत्यधिक प्रसन्न थे कि आंबेडकर ने परिश्रम ही नहीं, बल्कि अथक परिश्रम किया है। पृथक मतदान का विचार भी त्याग दिया और सलाहकार उप-समिति संयुक्त मतदान के पक्ष में वोट भी दिया।

अनेक सदस्यों ने आंबेडकर को 'आधुनिक महापुरुष' बताया और उनके योगदान ने उनके संबंध में सारी भ्रांतियों और आशंकाओं को तिरोहित कर दिया। वे देश के सर्वोच्च राष्ट्रभक्तों के दल में गिने गए। एस. सहाय ने कहा था : "स्वाधीनता का श्रेय महात्माजी को दिया जाएगा और इसको सहिताबद्ध करने का सेहरा बँधेगा उनके कटुतम आलोचक के सिर अर्थात् हमारे महान् संविधान के महान् शिल्पी आंबेडकर के सिर पर।" उन्होंने आगे कहा, "उन्हें न केवल इस सदन में आधार का सौभाग्य प्राप्त है, वरन् पूरा राष्ट्र उनका आभारी है...जिस खूबी से उन्होंने विधेयक का संचालन किया वह न केवल इस संसति के लिए स्मरणीय है बल्कि आगे आने वाली पीढ़ियाँ भी उन्हें याद रखेंगी। प्रारूप समिति के सदस्य अल्लादि कृष्णस्वामी अय्यर ने अपने भाषण का उपसंहार इस प्रकार किया—"यदि मैं सहयोगी माननीय डॉ. आंबेडकर की कुशलता और योग्यता के प्रति सम्मान प्रकट नहीं करूँगा तो मैं अपने कर्तव्य पालन से मुकरना समझूँगा। आंबेडकर ने जिस योग्यता से इसका संचालन और जिस परिश्रम से इसकी संरचना की, वह प्रशंसनीय है।" गोविंद बल्लभ पंत ने उन्हें 'पंडित' कहकर पुकारा और कहा, "संविधान का प्रारूप तैयार करने में और उसकी व्यवस्थाओं की सदन में व्याख्या करने से उनकी विद्वता का परिचय मिलता है।" पट्टाभि सीता रमैया ने कहा, "इस विलक्षण और विशद कार्य में उन्होंने जिस विद्वता का परिचय दिया है मैं उसकी ओर उनका ध्यान दिलाना चाहता हूँ...जो उन्होंने उचित समझा वह कहा। चाहे उसका परिणाम कुछ भी हो।" पं. कुंजरू ने प्रारूप समिति की प्रशंसा की कि उसने इतनी कुशलता तथा सोच-विचार के साथ इस कार्य को संपन्न किया।

के.बी. राव का कथन था कि डॉ. आंबेडकर संविधान के जनक नहीं, उसकी 'जननी' हैं। उनके अनुसार आंबेडकर का इस संबंध में हुए निर्णयों में कोई हाथ नहीं था, वे इसकी नीतियों के भी निर्धारक नहीं थे, उन्हें अपने-आपसे समझौता करना पड़ा। वे अपने उद्देश्यों में सफल नहीं हुए बल्कि दूसरों की नीतियों की वकालत करनी पड़ी। उन्होंने राष्ट्रपति कार्यपालिका की पुष्टि की थी, किंतु बाद में संविधान सभा में उन्हें स्वयं इस प्रणाली का विरोध करना पड़ा। के.बी. राव ने आगे कहा कि नेहरू और पटेल को 'राष्ट्र का पिता' कहा जा सकता है पर मैं उन्हें प्रमुख देवता कहना पसंद करूँगा जो संविधान के वास्तविक जनक थे। आंबेडकर को संविधान की जननी कहा जा सकता है।

डॉ. पीली ने अपनी पुस्तक में उन्हें संविधानवेत्ता के रूप में इस प्रकार देखा, "आंबेडकर ने अपना कार्य श्रेष्ठता, पांडित्य, विद्वता, कल्पना शक्ति, तर्क और अनुभवों के आधार पर किया।" प्रारूप की व्यवस्थाओं पर आलोचनाओं का उत्तर देने के लिए जब भी वे खड़े हुए तभी उन व्यवस्थाओं की ऐसी ठोस और स्पष्ट व्याख्या उन्होंने की मानो भ्रांतियों की घटा छँट गई हो। दरअसल वे आधुनिक मनु थे और भारतीय संविधान के मुख्य शिल्पी कहलाने के अधिकारी थे। □

(प्रकाशन विभाग की पुस्तक 'आधुनिक भारत के निर्माता : भीमराव आंबेडकर' से उद्धृत)

कविता में नारे लिखता रचनाकार

मंगलेश डबराल

‘हर जोर-जुल्म की टक्कर में हड़ताल हमारा नारा है!’ महानगरों से लेकर छोटे शहरों और क़स्बों तक में यह नारा कितनी ही बार हवा में गूँजा और सुना गया होगा। कामगारों के हर संघर्ष, हर मोर्चे पर इस वाक्य ने साथ दिया और शोषण और अन्याय से लड़ने की प्रेरणा दी। आज़ादी के बाद सन् 1950 से 1960 के दशकों के बीच बंबई (अब मुंबई), दिल्ली, कोलकाता और कानपुर जैसे औद्योगिक नगरों में कपड़ा, जूट, कोयला आदि उद्योगों की मजदूर युनियनों ने इस नारे को इस कदर लोकप्रिय बनाया कि वह उसकी रचना करने वाले व्यक्ति से अलग होकर एक विशाल बिरादरी का चहेता बन गया। कोई भी रचना शायद तब बड़ी होती है जब वह अपने रचनाकार से अलग होकर समय और समाज की अपनी रचना बन जाए, उसकी रंगों में बहने और अपना स्वायत्त जीवन जीने लगे। बहुत से लोगों को यह याद नहीं होगा कि यह नारा दरअसल एक गीत का अंश है जिसे कवि शैलेंद्र ने सन् 1947 में बंबई के रेलवे मजदूरों की हड़ताल के समय लिखा था। शैलेंद्र तब खुद भारतीय रेलवे की मानुगा वर्कशॉप में वेल्डिंग का काम करते थे। वे सन् 1942 में बंबई गए थे और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के सांस्कृतिक संगठन इष्टा (इंडियन पीपुल्स थिएट्रिकल एसोसिएशन) में सक्रिय थे। फ़िल्मों के लिए उनके गीत लिखने की शुरुआत एक संयोग से शुरू हुई थी। बहुत से लोग इस कहानी से परिचित हैं कि एक मुशाफ़रे में शैलेंद्र भारत-पाकिस्तान विभाजन और हिंसा के विरोध में लिखी गयी अपनी कविता ‘जलता है पंजाब हमारा प्यारा’ का पाठ कर रहे थे तो वहाँ मौजूद अभिनेता राजकपूर बहुत प्रभावित हुए। वे तब अपनी पहली फ़िल्म ‘आग’ के निर्माण में लगे थे। उन्होंने शैलेंद्र से उस गाने के इस्तेमाल की गुज़ारिश की। शैलेंद्र ने उस ऑफ़र को ठुकरा दिया। इष्टा के प्रतिबद्ध रचनाकार के नाते शैलेंद्र ने व्यावसायिक मकसद के लिए अपनी कलम ‘बेचने’ से इनकार कर दिया। कहा जाता है कि बाद में जब शैलेंद्र आर्थिक अभाव से गुज़र रहे थे और उनकी पत्नी बीमार पड़ी तो वे मदद के लिए राजकपूर के पास गए। राजकपूर तब फ़िल्म ‘बरसात’ बना रहे थे। उन्होंने 500 रुपये में शैलेंद्र से दो गीत लिए ‘हमसे मिले तुम, तुमसे मिले हम बरसात में’ और ‘पतली कमर है, तिरछी नज़र है’। शंकर-जयकिशन की संगीत संरचना में ये दोनों गीत दर्शकों की जुबान पर चढ़ गए। एक दिलचस्प प्रसंग और भी है कि एक बार शंकर-जयकिशन ने फ़िल्मों के लिए उनसे गीत लिखवाने का आश्वासन देने के बावजूद उन्हें नहीं बुलाया तो शैलेंद्र ने एक पुर्जे पर यह लिखकर उन्हें भेज दिया : ‘छोटी सी ये दुनिया पहचाने रास्ते हैं/ तुम कभी तो मिलोगे कहीं तो मिलोगे तो पूछेंगे हाला।’ शंकर-जयकिशन को अपनी भूल का एहसास हुआ और ये बोल इतने पसंद आए कि उन्होंने शैलेंद्र से गीत पूरा करवाया और संगीतबद्ध किया जो राजेन्द्र सिंह बेदी की फ़िल्म ‘रंगोली’ (1962) का बहुत कामयाब गीत बना। दुर्भाग्य से शैलेंद्र तैतालीस वर्ष की कम उम्र में ही दुनिया से चले गए। वे अपनी महत्वाकांक्षी फ़िल्म ‘तीसरी कसम’ के क़र्ज़ के बोझ से दबे हुए थे और बेजोड़ फ़िल्म होने के बावजूद बॉक्स ऑफ़िस पर उसकी विफलता से टूट गए थे। लेकिन तब तक वे करीब 167 गीतों की रचना कर चुके थे, जिनमें से ज्यादातर लोगों की जुबान पर बसे रहे क्योंकि उनमें लोकवादी काव्य-तत्व की गहराई और पारदर्शी भाषा थी। अगर हिन्दी सिनेमा के सुनहरे दौर के गीतों की सूची बनाई जाए तो ज़ाहिर होगा कि जो गीत सबसे अधिक और सबसे देर तक लोकप्रिय बने रहे, उनमें शैलेंद्र के गीतों की संख्या सबसे अधिक है। शंकर-जयकिशन की सुरीली संगीत संरचनाओं ने उन्हें और भी लंबा जीवन दिया।

लेकिन सिर्फ़ सिनेमाई गीतकार का रूप शैलेंद्र का समूचा व्यक्तित्व नहीं है। वे सबसे पहले कवि थे—जनता के कवियों की महान प्रगतिशील परंपरा के एक आरंभिक स्तंभ, जिन्हें नागार्जुन सरीखे बड़े जनकवि ने भी एक कविता में बहुत मार्मिकता से याद किया है। वे सबसे पहले अन्याय-शोषण के खिलाफ़ संघर्ष और समाज को बदलने के लिए क्रांति की ज़रूरत के गायक थे : ‘क्रांति के लिए उठे कदम/क्रांति के लिए जली मशाल/ भूख के विरुद्ध भात के लिए/रात के विरुद्ध प्रातः के लिए/हम लड़ेंगे हमने ली कसम’ उनका ऐसा ही एक गीत है जो कितने ही वर्षों से जन-संघर्षों की जान बना हुआ है, पुराना नहीं पड़ा है और आज भी गाया जाता है। गौरतलब यह है कि शैलेंद्र अंत में ‘क्रांति’ के इस स्वप्न को ‘शांति’ के उद्देश्य तक ले जाते हैं : ‘शांति के लिए उठे कदम/शांति के लिए जली मशाल’ एक और गीत में वे आज़ाद भारत में मजदूरों-किसानों का हाल बताते हुए लिखते हैं : ‘वे अन्न-अनाज उगाते/वे ऊँचे महल उठाते/कोयले-लोहे-सोने से/धरती पर स्वर्ग बनाते/ वे पेट सभी का भरते/पर खुद भूखें मरते’। आज़ादी के बाद की स्थितियों को संबोधित करते हुए वे कहते हैं :



‘तुम किसान-मजदूरों पर गोली चलवाओ/और पहन लो खूब, देशभक्त कहलाओ।’ ‘हड़ताल हमारा नारा है’ शैलेंद्र का कुछ लंबा गीत है जिसे जन संघर्षों की प्रकृति और परिस्थिति के अनुरूप समय-समय पर बदला भी गया है। मसलन, शैलेंद्र की बनायी फ़िल्म ‘तीसरी कसम’ के प्रसिद्ध लेखक फणीश्वर नाथ रेणु जब सन् 1947 में जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में छिड़े बिहार आन्दोलन में सक्रिय हुए तो उन्होंने ‘हड़ताल’ को बदल कर ‘संघर्ष’ कर दिया और इस आंदोलन का प्रिय आवाहन बना : ‘हर जोर-जुल्म की टक्कर में संघर्ष हमारा नारा है!’ इस गीत के कई अंश आज भी प्रासंगिक हैं, भले ही भूमंडलीकरण की आँधी के शोर में वे दब गए लगते हों :

‘हर जोर जुल्म की टक्कर में, हड़ताल हमारा नारा है!
तुमने माँगें दुकरी हैं, तुमने तोड़ा है हर वादा
छोनी हमसे सस्ती चीज़ें, तुम छुटनी पर हो आमदा
तो अपनी भी तैयारी है, तो हमने भी ललकारा है
हर जोर जुल्म की टक्कर में हड़ताल हमारा नारा है!
मत करो बहाने संकट है, मुद्रा-प्रसार इंफ्लेशन है
इन बनियों चोर-लुटेरों को क्या सरकारी कन्सेशन है
बगलें मत झाँको, दो जवाब क्या यही स्वराज्य तुम्हारा है?
हर जोर जुल्म की टक्कर में हड़ताल हमारा नारा है!’

आजादी के बाद के हालात चित्रित करने के लिए भगत सिंह की शहादत के रूपक में लिखी गई शैलेंद्र की एक और रचना भी इप्टा के सक्रिय दौर में बहुत लोकप्रिय हुई और अब भी जलसों-जुलूसों-प्रदर्शनों और नुक्कड़ नाटकों में पढ़ी-गाई जाती है। सन् 1948 की यह रचना प्रसिद्ध पत्रिका ‘हंस’ में प्रकाशित हुई थी लेकिन उसे आजाद भारत में उत्तर प्रदेश सरकार के प्रतिबंध का शिकार होना पड़ा और ‘हंस’ की प्रतियाँ ज़ब्त कर ली गईं। दरअसल, सन 1948 में जालंधर में भगत सिंह का शहीदी दिवस मनाया गया था जिसमें बिहार के क्रांतिकारी किसान नेता सहजानंद सरस्वती के अलावा शैलेंद्र भी शामिल हुए। सरकार ने सहजानंद सरस्वती को सभा में जाने से रोकने के लिए धारा 144 लगा दी तो उन्होंने उसका उल्लंघन किया और गिरफ्तार कर लिए गए। इस घटना के प्रतिरोध में शैलेंद्र ने तुरंत कविता लिखी।

शैलेंद्र उस आजादी की बार-बार शिनाख्त करते हैं जो अभी तक अधूरी है और जिसने देश में पूँजीपतियों और शासक वर्गों की शोषणपरक, लुटेरी व्यवस्था को ख़त्म करने की बजाय और भी मजबूत किया है। उनकी एक और कविता ‘अंदर की यह आग’ भी इसीलिए चर्चित हुई कि उसमें उस आजादी की चीर-फाड़ की गई थी जो हमें ‘खून बहाए बिना’ और अंग्रेजों की ओर से ‘खुश होकर’ दी गई थी।

‘वही नवाब, वही राजे, कुहराम वही है,
पदवी बदल गई है, किन्तु निजाम वही है,
धका-पिसा मजदूर वही, दहकान वही है,
कहने को भारत, पर हिन्दुस्तान वही है।’

कविता के अंत में शैलेंद्र परिवर्तन की एक उम्मीद का स्वप्न भी दुनिया के सामने रखते हैं :

‘अंदर की यह आग एक दिन भड़केगी ही,
नयी गुलामी की बेड़ी भी तड़केगी ही।’

शैलेंद्र पूरी तरह से एक प्रतिबद्ध राजनैतिक कवि थे। उनकी कविताएँ ही नहीं, बहुत से फ़िल्मी गीत भी राजनैतिक चेतना और भविष्य-दृष्टि से परिपूर्ण हैं। राजकपूर की फ़िल्म ‘अनाड़ी’ का वह मशहूर गीत ‘सब कुछ सीखा हमने, न सीखी होशियारी’ या कई दूसरी फ़िल्मों में ‘दिल का हाल सुने दिलवाला’, ‘मैंने दिल तुझको दिया’, ‘आवारा हूँ’, ‘मेरा जूता है जापानी’, ‘तू जिंदा है तो जिंदगी की जीत पर यकीन कर’, ‘जो करता है जीते जी/मैं यूँ ही गाता जाऊँ/गर्दिश में थके हारों का/माथा सहलाता जाऊँ’, ‘सज्जन रे झूठ मत बोली’ और ‘किसी की मुस्कराहटों पे हो निसार’ जैसे गीत इस जन-गीतकार की आंतरिक भावना, विचार और मजबूत आशावाद और भविष्य में आस्था के उदाहरण हैं। यहाँ तक कि ‘नन्हे-मुन्हे बच्चे/तेरी मुट्ठी में क्या है/मुट्ठी में है तकदीर हमारा/हमने दुनिया को वश में किया है’ (बूट पॉलिश) जैसा बाल-गीत भी यही आस्था और भविष्यवादिता लिए हुए है। बेशक, शैलेंद्र ने जरूरत के अनुरूप फ़िल्मों के लिए प्रेम, विरह और मस्ती के काफ़ी रूमानी गीत लिखे, लेकिन उनमें भी उनकी जनवादी दृष्टि जगह-जगह झाँकती है। उनके प्रेम गीतों में अक्सर चाँद की उपस्थिति मिलती है और कह सकते हैं कि चाँद के विभिन्न रूपों के बग़ैर उन गीतों का प्रेम अधूरा ही रहता है। यह चाँद उन गीतों को एक अजब मासूमियत से भर देता है और यह निश्चलता शैलेंद्र के दूसरे फ़िल्म-गीतों में भी मौजूद है : ‘दम भर जो उधर मुँह फेरे/ओ चंदा/मैं उनसे प्यार कर लूँगी/बातें हज़ार कर लूँगी।’ या, ‘खोया-खोया चाँद, खुला आसमाँ/आँखों में सारी रात जाएगी/तुमको भी कैसे नौद आएगी।’

युवा लेखक रमा भारती ने शैलेंद्र के फ़िल्मी अवदान से परे, उनकी जन-कविताओं और गीतों को एक पुस्तक ‘अंदर की आग’ के शीर्षक से सँजोकर बड़े महत्व का काम किया है और गौरतलब यह है कि संकलन की ज्यादातर रचनाएँ ऐसी हैं, जो आजादी के बाद जनसंघर्षों, मजदूरों की हड़तालों, मोर्चों और जुलूसों के उपयोग में आती रहीं और अब भी भुलाई नहीं गयी हैं। राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित यह संग्रह शैलेंद्र को निरी फ़िल्मी शिखि़यत से अलग, उन्हें गंभीर और सचेत राजनैतिक कवि के तौर पर समझने की एक अच्छी राह खोलता है। शायद बहुत कम रचनाकार होंगे जो दुनिया के बदलने और मनुष्यता की विजय पर इतने गहरे विश्वास के साथ यह कह सकते होंगे :

‘सच है दुबा-सा है दिल जब तक अंधेरा है

इस रात के उस पार लेकिन फिर सवेरा है

हर समंदर का कहीं पर तो किनारा है

आज अपना हो न हो पर कल हमारा है।’

शैलेंद्र के प्रशंसक इंद्रजीत ने काफ़ी यत्नपूर्वक अनेक वरिष्ठ लेखकों, साहित्यकारों, संगीतकारों से कवि शैलेंद्र के विभिन्न पक्षों पर आलेख लिखवाए हैं। ये सभी आलेख ‘भरती कहे पुकार के’ में संकलित हैं जो शैलेंद्र के अनेक अज्ञात और अर्चित-अल्पचर्चित पक्षों को उजागर करते हैं। शैलेंद्र के प्रशंसकों के लिए निश्चय ही यह एक संग्रहणीय पुस्तक है। □

(कृति: ‘भरती कहे पुकार के’ गीतकार शैलेंद्र, संपादक : इंद्रजीत सिंह ; प्रकाशक : वीके ग्लोबल पब्लिकेशन्स प्रा.लि., फरीदाबाद, मूल्य : 300 रुपये)

संत कवियों की कविताओं...

पृष्ठ 45 से आगे

संतों ने समाज में व्याप्त कुरीतियों, पाखंडों, अंधविश्वासों से देखा था। उन्होंने अपनी कविताओं में इसका चित्र खींचा और जन-सामान्य को जागृत करने के लिए शिक्षित होने का आह्वान किया। कबीर का यह पद इस ओर संकेत करता है—

अवध राम सबै करम करिहौं, सहज समाधि न जग थै डरिहौं। /
कुमरा हवै करि बासन घरिहौं, धोबी हवै मल धोऊँ। / चमरा हवै करि
रंगों अधौरी, जाति पाँति कुल खोऊँ। / तेली हवै तन कोल्हू करिहौं,
पाप पुनि पीरौं।

लोक-मंगल और लोक-धर्म, लोक-कल्याण, लोक-प्रेरणा मध्ययुगीन संतों की वाणियों में बहुतायत से दृष्टव्य होती हैं। परिवार में एक-दूसरे के प्रति कर्तव्य, प्रेम, सम्मान, स्नेह, मर्यादा और आदर्श जैसे मूल्य एक-दूसरे के प्रति सहिष्णुता की भावना से ओतप्रोत करते थे।

इस प्रकार मध्ययुगीन संतों की वाणियों में व्यंजना और लक्षणा शैली में जहाँ अनेक प्रकार की प्रेरणाएँ, उपदेश और दर्शन द्रष्टव्य होते हैं वहीं पर लोक मंगल, लोक संस्कृति और लोक-धर्म को भी सूक्ष्मता से समझाया गया है। □

स्त्री कविता में अनुभव और अनुमान का फ़र्क़

सुधा उपाध्याय

पुरुषों के लिए स्त्री-लेखन को लेकर चिंता, चिंतन और विद्रोह दरअसल अनुमान भर है जबकि स्त्रियाँ, जब अपनी यातना को शब्द दे रही होती हैं तो अनुभव पर बात कर रही होती हैं। इसमें खुलने-उघरने और सार्वजनिक हो जाने का जोखिम भरा है। फिर भी संवेदना के धरातल पर नई स्त्रियाँ शाश्वत स्त्रियों को स्वर दे रही होती हैं। पुरुष कितना भी संवेदनशील हो, ईमानदार हो, हमदर्द बनकर रह जाता है, हमजुबो बनने में अभी वक्त लगेगा।

आज स्त्री-लेखन केवल पहचान की संकट से ही नहीं, इंसान होने की शर्त से भी जूझ रहा है। यद्यपि जिसे हम स्त्री कविता कहते हैं, इन नई स्त्रियों ने अपने व्यक्तित्व और अस्मिता को रेखांकित करने की कोशिश की है। ये नई स्त्रियाँ उम्र में सौ के पार भी हो सकती हैं। वस्तुतः स्त्री नई और पुरानी नहीं होती। उसके लेखन के समक्ष आने वाली चिंताएँ, चिंतन व चुनौतियाँ शाश्वत होती हैं। अतः मैं बात करूँगी शाश्वत स्त्री बनाम नई स्त्री पर। एक तरफ़ परंपरा की भेंट चढ़ती स्त्रियाँ हैं दूसरी तरफ़ खुले विद्रोह की हिमायती नई स्त्रियाँ। जो उठना और उठाना जानती हैं। इन नई स्त्रियों की कविता में हर स्त्री कुछ-कुछ अपनी माँ जैसी और बहुत कुछ अपनी बेटा जैसी होना चाहती है। पर परिवेश ये नई स्त्रियाँ 'अपने जैसी' बनने रही हैं। वस्तुतः यह नई स्त्री अपनी विस्तार देखती है। इसलिए नम्रता, इतिहास नकारती है और इन्हीं मायनों से, शाश्वत चिंताओं से और आने शाश्वत स्त्री के बीच का यह द्वंद्व बोल्ट स्ट्रेप उठा लेने के बाद भी शाश्वत स्त्रियाँ सब तरह का जोखिम पर बाद में व्यवस्था का हिस्सा बन स्त्री की कविता के लिए नये सवाल, कर देती हैं। राजकमल प्रकाशन से सरोकार तथा 'स्त्री कविता : पक्ष विविधवर्णी संसार को आलोचना के किया है। यह आलेख 'स्त्री कविता : पक्ष और परिप्रेक्ष्य' को लेकर है, जिसमें चिंतक रेखा सेठी, गगन गिल, कात्यायनी, अनामिका, सविता सिंह, नीलेश रघुवंशी, निर्मला पुतुल और सुशीला टाकभैर को अपने अध्ययन का आधार बनाती हैं।

लेखन के संदर्भ में नारी-पुरुष के भेद को खत्म करने वाली बात मूलतः पुरुष मानसिकता और वर्चस्व को बनाए रखने की ऐसी साजिश के रूप में देखी जानी चाहिए जो नारी के वास्तविक सरोकारों और पीड़ाओं की अभिव्यक्ति में बाइपास का काम करेगी। यह कथन 'हंस' 1999 के संपादकीय में पंकज बिष्ट ने कहा है। यानी स्त्री-लेखन से जुड़ी यह पीड़ा सहजात न होकर अर्जित पीड़ा है। कैसी विडंबना है कि 'स्त्री के सोचने' पर तो पाबंदी है पर इधर 'स्त्रियों पर' खूब सोचा जा रहा है। स्त्री को पढ़ना और स्त्री की तरह पढ़ना दो अलग-अलग बातें हैं। दरअसल यहाँ भोगने और महसूसने के फ़र्क़ को समझना होगा।

'स्त्री कविता : पक्ष और परिप्रेक्ष्य' में अपने अध्ययन के लिए रेखा सेठी दो कोण चुनती हैं। सामाजिक स्थिति और भौतिक उपस्थिति। इन्हीं टूल्स की सहायता लेकर वो उदार स्त्रीवाद, रैडिकल स्त्रीवाद और मार्क्सवादी स्त्रीवाद को खँगालती हैं। वस्तुतः ये वाद लिंग, जाति और वर्ग के भेदभाव से पैदा हुआ है। ये सामाजिक संरचना पर भी सवाल उठाती हैं कि किस प्रकार स्त्रियाँ केवल अपने लिए नहीं, अपने जैसों के लिए, केवल लिंग दमन

स्त्री-कविता पक्ष और परिप्रेक्ष्य

रेखा सेठी



व वातावरण से जूझती स्त्रियाँ यानी की जद्दोजहद में अभी संघर्ष कर अगली पीढ़ी की स्त्रियों में अपना उदारता और सहनशीलता का बोझिल में नई स्त्री जूझती है पारंपरिक चेतना वाली चुनौतियों से भी। नई स्त्री और स्वावलंबी तो है पर इसके बावजूद किसी परिणाम तक नहीं पहुँचता। भी उठाती थीं, संघर्ष भी करती थीं जाती थीं। वस्तुतः यही स्त्रियाँ नई नई चिंताएँ और नई चुनौतियाँ खड़ी प्रकाशित 'स्त्री कविता : स्वप्न और और परिप्रेक्ष्य' में उसी नई स्त्री के विचार क्षेत्र में रेखा सेठी ने प्रतिष्ठित



के लिए नहीं वर्गीय भेदभाव के लिए भी अपनी स्त्री कविता में शोषण को उभारती हैं। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में स्त्री कविता के पक्ष में समूचा दलित व आदिवासी स्त्री-विमर्श इस चिंतन का साक्षी है।

पुरुष व स्त्री के लेखन को समझने के लिए स्त्री से जुड़े सवाल को, जो किसी खाँचे में नहीं बनते, यानी ऐसी परिस्थितियों, ऐसे पद प्रतिष्ठा, ऐसी सामाजिक हैसियत जिसमें कामगार स्त्री, मजदूर स्त्री, वकील, शिक्षक और डॉक्टर स्त्री का भी आकलन होना चाहिए, जो पुरुष के भी अनुभव क्षेत्र हैं। यानी इन परिस्थितियों में जब पुरुष स्त्री विषयक कविता लिख रहा होगा तो कितनी सक्षमता व कितने सरोकारों के साथ? कितनी तटस्थता और कितनी संलग्नता के साथ? वह स्त्री को सहयात्री के रूप में पढ़ता और समझता है। पर यह जट्टोजहद अनुमान का जट्टोजहद है। और क्योंकि कमाई हुई संवेदनशीलता के नाते उसका अनुभव सहजात नहीं अर्जित है, अब ऐसे में वह स्त्री विषयक चिंताओं और चुनौतियों के साथ कितना न्याय कर पाएगा। इसीलिए जब स्त्रियाँ रच रही होती हैं अपने लिए नया प्रति संविधान, जब वे जूझ रही होती हैं सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक बराबरी के लिए, जब संघर्ष करती हुई वे अपनी मुक्ति का सवाल उठाती हैं तो दरअसल केवल परिवार और समाज को नहीं पुरुष के वर्चस्व को ठेस पहुँचाती हैं। इस नई स्त्री की कविता में सतत लड़ाई है मनुष्य का दर्जा पाने के लिए और समाज जुटा है सदियों से उसे देवी की प्रतिष्ठा देकर एक कोने में स्थापित करने के लिए। ये नई स्त्रियाँ शाश्वत स्त्रियों की तरह स्थापित होने नहीं प्रतिष्ठित होने आई हैं। ये तमाम कोने को तोड़कर केंद्र में आना चाहती हैं। यही कारण है इस नई स्त्री की कविता में उसका व्यक्तिगत व जातिगत अनुभव, उसका तेवर और उसका चिंतन और उसकी तमाम चिंताएँ पुरुष से नहीं उसके वर्चस्व से टकराती हैं। जब-जब यह नई स्त्री अपने व्यक्तित्व का विस्तार करती है, समय व समाज को चुनौती दे रही होती है। शाश्वत स्त्रियाँ अपना घर-परिवार और बच्चों के दायित्व निर्वाह में 'अपना होना' (अस्तित्व) तलाशती हैं। पर ये नई स्त्रियाँ अपनी शिक्षा, योग्यता, हुनर व शौक के लिए जूझना चाहती हैं। अक्सर देखा गया है कि शाश्वत स्त्रियों द्वारा खड़ी की गई चुनौतियाँ ही इस नई स्त्री को बेहतर कल की सोच, संभावना व जीवन से मुठभेड़ करने के लिए उकसाती भी हैं। सामाजिक असमानता को गाहे-बगाहे सहजता से स्वीकारती हुई ये वही शाश्वत स्त्रियाँ जो पुरुष को वर्चस्व देती आई हैं पर सामाजिक अंतर्विरोध को पकड़ने वाली यह नई स्त्री तड़पती नहीं है, कहने का जोखिम उठा रही है और वह भी केवल अपने सुख-दुख, अपने डरने-हारने या डिप्रेशन और फ्रस्ट्रेशन पर नहीं बल्कि सामाजिक विद्रूपता, विसंगत अर्थव्यवस्था व कुटिल राजनैतिक भेदभाव को भी चिन्हित करा रही हैं। यह नई स्त्री अपनी कविता में जो जहाँ देखती है, पूरी शिद्दत से समाज को दिखाना चाहती है और इसीलिए उसे दुस्साहसी, बोल्ड व डोमिनेंटिंग की संज्ञा से नवाजा जाता है।

तुलसीदास ने लिखा था- “जिमि स्वतंत्र होई बिगरहिं नारी”। यानी आप ही देखें ‘स्व’ के ‘अनुशासन’ स्व के तंत्र का पालन करती हुई स्वाधीन चेतना का चिंतन-लेखन करती स्त्रियाँ बिगड़ी हुई स्त्रियाँ हैं। वस्तु से विषय बनने में जो जोखिम है उसी जोखिम को ये नई स्त्री कविता उभारती है। आखिर हम स्त्रियाँ सब्जेक्ट हैं। हम कबतक घुलनशील पदार्थ ऑब्जेक्ट बनकर अनुकूलित की जाती रहेंगी। तमाम चिंताओं, दुविधाओं, असमंजस, विषम परिस्थितियों से उठकर अपने जैसों में विद्रोह, साहस व जोखिम भर रही हैं ये स्त्रियाँ।

रेखा सेठी ने जिन सात रचनाकारों को चुना है, उनमें तमाम धिन्तताएँ होते हुए भी एक बात तो तय है कि ये सभी नई स्त्रियाँ हैं, जो व्यक्ति के तौर पर बड़ा होना, बौद्धिक क्षमताओं का विस्तार करना,

आइडेंटिटी की तलाश में अपने लिए नया रास्ता चुनती हैं। अपनी अभिरुचियों का सम्मान करती हैं। किसी के लिए साधन न बनकर स्वयं में साधना हो जाना चाहती हैं। अपनी स्वतंत्र चेतना के बल पर नित नई चुनौतियों को स्वीकार करती हैं। लगभग इन सातों नई स्त्रियों की चुनौतियाँ परंपरागत व्यवस्था को नागवार गुजरती हैं और इसी कारण से इन नई स्त्रियों को लगातार घर-परिवार और समाज से जूझना पड़ता है। क्योंकि ये बनी-बनाई परिपाटी के लिए खतरा हैं, क्योंकि ये सामाजिक अंतर्विरोधों के लिए दो टुक सवाल करती हैं, इसलिए ये पूँजी और पुरुष के वर्चस्व को तोड़ती हैं। ये नई स्त्रियाँ वस्तुतः नई कविता के लिए नई ज़मीन तैयार कर रही हैं। इन सब बातों के साथ जो अलग-अलग खूबियाँ हैं इन सातों स्त्री रचनाकारों में जैसे गगन गिल के लिए कविता मुक्ति की आकांक्षा है। उदाहरण देखिए-

संसार जल रहा है अभी तक
उसी तरह दलदल में धँसे हैं अभागे
उसी तरह थक गई है अग्नि
थक गया है बोध
थक गया है बैल भी पृथ्वी के नीचे
बुद्ध भी थक गए हैं बुद्ध होते-होते
वहाँ कात्यायनी सामाजिक सरोकारों व राजनैतिक चेतना से भरपूर स्त्री के लिए आवाज उठाती हैं। 'इस समाज में यदि कोई सर्वहारा है तो वो नारी ही है जिसके पास खोने को सिर्फ जंजीरें हैं।'
सोचती है वह कौन सी चीज है
जिसके बिना सबकुछ अधूरा है
प्यार भी सौंदर्य भी मातृत्व भी
सोचती है वह और पूछती है चीख-चीखकर
प्रतिध्वनि गूँजती है
घाटियों से समुद्र की ऊँची लहरों से टकराकर
आज़ादी आज़ादी आज़ादी
सविता सिंह व अनामिका के यहाँ स्त्रीवाद की अभिव्यक्ति अलग-अलग क्षितिज खोलती है। अनामिका के यहाँ स्त्रियों का हँसता-बोलता मोहल्ला है। माँ हैं। मौसियाँ हैं। लोक संस्कारों का ठाट-बाट है। साझी दुख-सुख की हिस्सेदारी है और साझी मुक्ति की बात है।

सविता सिंह स्त्री की सामाजिक स्वीकृति के लिए किसी पुरुष या परिवार की राह नहीं देखतीं। वह अपने पूर्व या पश्चात की स्त्रियों से बहुवचन में जुड़ी रहती हैं। ये वही सजग स्त्रियाँ हैं जो अपने एकांत को भी सम्मान देना जानती हैं-

स्त्रियों तुम जहाँ भी हो
जिस सदी और जिस देश में हो
तुम्हें अपने पूर्व जन्म सा
में कविता में पा लूँगी

नीलेश रघुवंशी सामाजिक विषमताओं पर तो लिखती ही हैं, जहाँ जाति, धर्म, वर्ग, जेंडर की असमानताएँ स्त्रियों के हिस्से आती हैं। स्त्री अधिकारों की ज़मीन सिर्फ स्वतंत्र अस्मिता जताने से नहीं होती। महत्वपूर्ण है स्त्री देह। जो केवल दर्शनीय और मोहक ही न रहे, इसलिए नीलेश नागरिक अधिकारों भी सपना बुनती हैं।

आधी रात हो और जीने का पूरा मन हो / कोई मुझे एक नागरिक की तरह / यह देह भी क्या तुच्छ चीज है / बिगाड़कर रख दिए जिसने / नागरिक होने के सारे अर्थ / या किसी अन्य कविता की पंक्तियाँ देखें-

दुनिया में आना है तो / भीगे खुरगोश की तरह नहीं / दहाड़ते शेर की तरह आना होगा।

निर्मला पुतुल की कविताओं में आदिवासी अस्मिता तो केंद्र में है ही, लेकिन इससे भी अलग व्यापक स्त्री अस्मिता और व्यापक सामाजिक संघर्ष को भी नया स्वर मिला है। यौन शोषण, भरण-पोषण, भूख, गरीबी, पति, प्रेमी और पिता तक इसके जिम्मेदार हैं। वे लिखती हैं-

धरती के इस छोर से उस छोर तक / मुट्ठीभर सवाल लिए मैं दौड़ती-हाँफती-भागती / तलाश रही हूँ सदियों से निरंतर / अपनी जमीन अपना घर अपने होने का अर्थ

निर्मला पुतुल स्त्री को भोग्या या पदार्थ होने तक देह के शोषण का केवल कविताओं में ही विरोध नहीं करतीं, बल्कि सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में जीवन के खुरदरे यथार्थ को भी उद्घाटित करती हैं-

स्त्रियों को इतिहास में जगह नहीं मिली / इसलिए हम स्त्रियाँ लिखेंगी अपना इतिहास / हम खून से लिखेंगे अपना इतिहास आँसू से नहीं

हम भूगोल की सारी सीमाएँ लाँचकर / पहुँच जाएँगे इतिहास के उस गलियारे में / और दर्ज करेंगे अपना सशक्त हस्ताक्षर

सुरीला टाकमैरि दलितों की यातना में जीवन पर कोई दया या सहानुभूति नहीं चाहतीं बल्कि वे लगातार शिक्षा, स्वाधीनता व राजनैतिक अधिकारों का हिसाब भी माँगती हैं। समाज के स्थापित ढाँचे को अस्वीकार करते हुए न केवल सामंती व्यवस्था से टकराती हैं बल्कि दलित साहित्य का नया सौंदर्यशास्त्र भी रच रही हैं।

कब बदलेंगे कर्मकांड / कब मिलेगा सामाजिक न्याय / पूछो उससे अन्यथा / कर दो उसके टुकड़े-टुकड़े

वस्तुतः जाति व लिंग दोनों की असमानता ने दोहरा अभिशाप पैदा कर दिया है क्योंकि यह तो सच है कि परंपरावादी व्यवस्था की घुसपैठ दलितों में भी है और उसकी यह स्थिति तबतक यथावत रहेगी, जबतक उनमें भी पुरुषों का वर्चस्व कायम रहेगा। वह किसी भी जाति से हों, वर्ग या समुदाय से हों कहलाएँगे शोषक ही। उदाहरण देखिए-

हम दलित आदमरूप होकर / आदम भाषा में पूछना चाहते हैं सवाल / मानव सभ्यता संस्कृति का इतिहास क्या है / भारतीय संस्कृति का आधार क्या है / क्यों किया अबतक हमपर अत्याचार

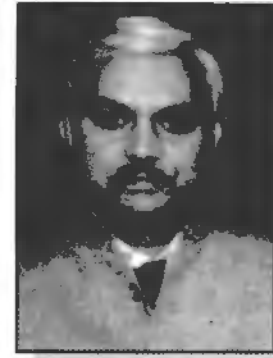
स्त्री के प्रति अन्यायपूर्ण व्यवहार को महादेवी ने भी देख लिया था। बचपन के विवाह को निभाने के लिए वह भी तैयार नहीं थीं और लगातार सामाजिक परिवेश में स्त्री-पुरुष की बराबरी की पक्षधर रहीं। महादेवी से लेकर आजतक जिन ऐतिहासिक परिवर्तनों की उम्मीद थी स्त्री-लेखन से, वह अभी बाकी है क्योंकि विचारों की दुनिया में पुरुष की स्थापना व्यक्ति के रूप में हुई और स्त्री की वस्तु के रूप में। यही कारण रहा होगा कि स्त्री सदैव अपने संदर्भ के बजाए, पुरुष के संदर्भ में परिभाषित होती रही। हमारे राजनैतिक, सामाजिक और दार्शनिक विचार भी तात्त्विक दृष्टि से पुरुष केंद्रित होते रहे। पुरुष व्यक्ति, हम स्त्रियाँ वस्तु। पुरुष तर्क, हम स्त्रियाँ भावना। पुरुष ज्ञान, हम स्त्रियाँ मान। समाज की सभी संस्थाओं में पुरुष का ही वर्चस्व जारी है। चाहे वह संसद हो, नौकरशाही हो या पुलिस हो। सब पुरुष द्वारा निर्मित हैं। और स्त्री की सांस्कृतिक-सामाजिक यौन जनित भिन्नता को कभी भी व्यक्ति के स्तर पर महत्व नहीं दिया गया। अब जरूरत है सोच में परिवर्तन लाने की। महादेवी वर्मा की इन पंक्तियों से अपनी बात समाप्त करती हूँ-

जब ज्वाला से प्राण तपेंगे / तभी मुक्ति के स्वप्न ढलेंगे / उसको छूकर मृत सौंसे में / होगी चिंगारी की माला / मस्तक देकर आज खरीदेंगे हम ज्वाला! / (प्रथम आयाम-मस्तक देकर आज खरीदेंगे हम ज्वाला!)

संवेदना के धरातल पर कई शाश्वत विषयों पर लिखा जाता रहा है, लिखा जाता रहेगा। यह लड़ाई अनुमान और अनुभव की है। वे अनुमान लगाते रहें हमारी पीड़ा का, हमारा अनुभव हमारी अस्मिता को पहचान दिलाएगा। विषय और स्तर की कोई सीमा नहीं है। हो सकता है एक समय में लिखती हुई अलग-अलग रचनाकारों को अलग-अलग परिवेश से जूझना पड़ रहा हो। इन सबके अनुभव अलग हो सकते हैं, पर लड़ाई एक ही है। हम मापक बनाएँ, पुरानी व्यवस्था और मापदंडों से टकराएँ। नये साहित्य के इतिहास में हमारी गमक दूर तक पहुँचे।

(कृति : 'स्त्री-कविता : पक्ष और परिप्रेक्ष्य' तथा 'स्त्री-कविता : पहचान और द्वंद्व'। लेखिका : रेखा सेठी; प्रथम संस्करण : 2019; मूल्य : 299 रुपये। प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली)

● गीत : शिव कुमार पराग



साझी जिंदगी

हम नहीं खोएँगे पलभर में सदी को
दिलों में अनुराग की बहती नदी को

ढाई अक्षर प्रेम के
हम जानते हैं,
बहुलता में एकता
पहचानते हैं

हम नहीं खोएँगे भाईचारा की
अमन की अभ्यस्त साझी जिंदगी को

हैं अलग मजाहब
अलग हैं जातियाँ,
एक जगमग दीप की
हम बातियाँ

हम नहीं खोएँगे इस संजीवनी को
गंगा-जमुनी सभ्यता की रागिनी को
हम अलग दिखते हैं
पर हैं एक ही,
लाख भटकें पर
रहेंगे नेक ही

हम नहीं खोएँगे टह-टह चाँदनी को
नानक-चिरंजी से आती रोशनी को।
हम धनक के रंग
दुनिया हमें देखे,
साथ रहते आए हैं
सुर-ताल जैसे

हम नहीं खोएँगे इस वाबस्तगी को
आपसी सद्भाव, गहरी दोस्ती को।

संपर्क : मो. 9415694361

ई-मेल : shivkumarparag@gmail.com

कला में तकनीक और शास्त्र

पं. विजयशंकर मिश्र

संगीत एक कला है, श्रेष्ठ ललित कला जो समय और समाज के साथ अभिन्नता से जुड़े होने के कारण शनैः शनैः अपना रूप बदलती रहती है.... लेकिन... बदलाव की यह प्रक्रिया इतनी सूक्ष्म होती है कि स्थूल आँखों से उसे तुरंत अनुभव कर पाना कठिन होता है। इसी विषय पर गंभीर चर्चा करने हेतु मेरठ के विवेकानंद सुभारती विश्वविद्यालय ने 'संगीत एवं नृत्य कलाएँ : कल, आज और कल' विषय पर दो-दिवसीय राष्ट्रीय परिसंवाद और कला प्रदर्शन का आयोजन अत्यंत भव्य स्तर पर किया, जिसमें देश के विभिन्न भागों से आए विद्वानों, प्राध्यापकों एवं शोधार्थियों ने अपने-अपने विचारों को प्रकट कर लोगों का ज्ञानवर्धन किया। यहाँ पूरे विश्वविद्यालय परिसर के कोने-कोने में जिस तरह विभिन्न कलाएँ-चित्र, मूर्ति, वस्तु, संगीत और नृत्य आलोकित हो रही हैं, उसके लिए वहाँ की संस्थापिका मुक्ति भटनागर, कला संकाय प्रमुख और विश्वविख्यात चित्रकार पिटू मिश्रा तथा संगीत-नृत्य विभागाध्यक्ष और नृत्यांगना भावना ग्रोवर दुआ निश्चय ही बधाई की पात्र हैं।

दीप प्रज्वलन के पश्चात् विभाग के छात्र-छात्राओं ने सामूहिक रूप से सरस्वती वंदना की सुरिली प्रस्तुति की जिनके साथ अभिषेक मिश्र ने आकर्षक तबला संगति की। मुक्ति भटनागर ने इस बात पर चिंता जरूर प्रकट की कि संगीत इन दिनों अनुशासन के शालीन बंधनों को तोड़कर अमर्यादित होता जा रहा है लेकिन, उन्होंने युवा पीढ़ी को आश्वस्त भी किया कि इसी अंधेरी रात से प्रकाश का नया सूरज भी निकलेगा। प्रति उपकुलपति डी. सी. सक्सेना ने भी कलाओं को प्रदूषित होने से बचाने का अनुरोध किया। विश्वविख्यात कथक नृत्यांगना कमलिनी अस्थाना ने संगीत की पवित्रता और शुद्धता को बनाए रखने पर जोर दिया तो उनकी छोटी बहन नलिनी अस्थाना ने बताया कि किस तरह खेलकूद और विज्ञान की पढ़ाई में अव्वल रहने के बावजूद उन्होंने नृत्य का दामन थामा। सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ पं. हरिदत्त शर्मा ने कहा कि आज कला में तकनीक और शास्त्र इतना अधिक प्रबल हो गया है कि कला पक्ष दब गया है। और, यही कारण है संगीत की अलोकप्रियता का। आकांक्षा सिंह ने अंग्रेजी में बोलते हुए लोक संगीत के महत्व पर प्रकाश डाला तो करनजीत सिंह ने गुरुमत संगीत की शोधपूर्ण व्याख्या करते हुए इसे लोकप्रिय फिल्मों गीतों की धुनों पर गाने का विरोध किया। प्रीति गुप्ता ने संगीत चिकित्सा पद्धति पर शोधपूर्ण ढंग से प्रकाश डाला तो वेणु वनिता ने तबले के बदलते स्वरूप पर। अम्बिका कश्यप ने वैदिक काल से अब तक के संगीत की गहन व्याख्या की। इनके अलावा विजय कुमार भट्ट, करिश्मा, अंजलि दीक्षित, मुकेश कुमार, मंजु त्यागी, सोमेश तिवारी, रिजा रिंशा, स्नेहा सिंह, सुचेता, अंशु श्रीवास्तव, सरस्वती जायसवाल और श्वेता गोस्वामी भट्ट के विचार भी सराहे गए। सुप्रसिद्ध बांग्ला कवि-लेखक सुनील गंगोपाध्याय की कविता- 'वह चिट्ठी जो कभी भेजी नहीं गई' पर एकल अभिनय करते हुए संयुक्ता थोराट ने लोगों को रोने के लिए विवश कर दिया। मधुरानी शुक्ला ने कला और शास्त्र की शोधपूर्ण व्याख्या करते हुए दोनों के बीच के अटूट संबंधों पर प्रकाश डाला तो विधि नागर ने वैश्वीकरण और व्यवसायीकरण के इस युग में संगीत की मार्केटिंग की वकालत की। जया शर्मा ने संगीत की यात्रा पर प्रकाश डाला तो रेखा सेठ ने इस बात पर चिंता प्रकट की कि आज के संगीतार्थियों के पास न तो सीखने की ललक है और न ही धैर्य।

दोनों ही दिन दोनों सत्रों में संगीत और नृत्य के आकर्षक कार्यक्रम भी संपन्न हुए। शेफाली गोयल तायल ने अपने नृत्य के माध्यम से नौ रसों की सुंदर चर्चा की। मोनिका सोनी ने राग भीमपलासी की सुंदर प्रस्तुति करते हुए राग रूपों में हो रहे बदलावों की आलोचना की। उनका गायन आकर्षण का विशेष केंद्र रहा। अजय पी. झा ने मोहनवीणा पर राग मधुवंती की आकर्षक प्रस्तुति की। अगली संध्या रक्षा सिंह डेविड के कथक नृत्य के साथ आरंभ





'आर्ट फ्रैगरेस' शोध पत्रिका का लोकार्पण

पर अभिनय से किया। तनुश्री कश्यप ने राग पुरियाधनाश्री का भावपूर्ण गायन किया। उनकी कजरी भी पसंद की गई। गीतेश मिश्र ने राग भीम और जोगकौंस में अपना गायन प्रस्तुत किया। उनकी रचनाएँ एकताल और आड़ाचैताल में निबद्ध थीं। स्वर और लय-ताल का प्रभावशाली सामंजस्य दिखा

गीतेश के गायन में। समापन पवन धानक के कर्णप्रिय क्लारनेट वादन से हुआ। उन्होंने राग जोग की मर्मस्पर्शी प्रस्तुति की। तबले पर फ़रीदीन हुसैन और हारमोनियम पर मेहराज खान ने



रक्षा सिंह डेविड

काफ़ी अच्छी संगति की। सभी अतिथियों का स्वागत मुक्ति भटनागर और पिंदू मिश्रा ने किया तथा धन्यवाद ज्ञापन भावना ग़ोवर दुआ ने। इस अवसर पर 'आर्ट फ्रैगरेस' नामक विश्वविद्यालय की एक शोध पत्रिका का लोकार्पण भी हुआ।

● दिल्ली में मुदुला टंडन और उनकी संस्था 'साक्षी' की ओर से इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय कलाकेंद्र में 'जश्न-ए-हिंद' नाम से संपन्न हुआ। जहाँ तीन दिनों तक चार विभिन्न मंचों पर लगभग 12 घंटे प्रतिदिन लगातार विभिन्न प्रकार के कार्यक्रम संपन्न हुए। इनमें साहित्यिक गोष्ठी, कवि सम्मेलन, मुशायरा, क़व्वाली, ग़ज़ल, शास्त्रीय गायन, उपशास्त्रीय गायन, सुगम और लोक संगीत, भरतनाट्यम्, कथक, रासलीला, तबला वादन, सितार, बाँसुरी और वायलिन वादन जैसे अनेक कार्यक्रम संपन्न हुए। इन तीन दिनों में और चार मंचों पर 70 से अधिक कार्यक्रमों में विभिन्न विधाओं के लगभग 500 कलाकारों ने अपनी-अपनी प्रस्तुतियाँ दीं। फ़रीद हसन खाँ और महबूब हुसैन ने राग बिहाग में अपना शास्त्रीय गायन प्रस्तुत करते हुए दिल्ली घराने की कई अच्छी रचनाएँ भी सुनाई और अच्छी तानों का भी प्रदर्शन किया। पद्मश्री शोवना नारायण ने अपने प्रभावशाली नृत्य का शुभारंभ शिव स्तुति से किया- 'महादेव शंकर जटाजूट नीलकंठ'।



शोवना नारायण

हुई। उन्होंने गणेश स्तुति के माध्यम से इसके धार्मिक पक्ष को रेखांकित किया। फिर त्रिताल में ठाठ, आमद, तोड़े, टुकड़े और लड़ी आदि की अच्छी प्रस्तुति की। समापन मारु विहाग में एक रचना पर भावपूर्ण

इसके बाद उन्होंने त्रिताल में शिव परन, हरिहर परन सहित कई अच्छे तोड़े, टुकड़े और परनों की सुंदर प्रस्तुति की। उनके द्वारा प्रस्तुत गतभाव द्रौपदी चौरहरण अभिनय की दृष्टि से पराकाष्ठा पर था। ठुमरी 'छड़ो लंगर गोरी बैया गहो ना' पर भी उनका नृगारिक अभिनय मनमोहक था। उन्होंने रूमी की कविता पर भी भावपूर्ण अभिनय किया। समापन एक भक्ति रचना से किया- 'गोविंद बोलो हरि गोपाल बोलो।' जुलेखा ने अपनी ग़ज़लों के माध्यम से अपनी प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया। अमिष कंसल, अभिराज सिंह और संवेद ओझा ने अपने सामूहिक तबला वादन के अंतर्गत, झपताल और त्रिताल में कायदे, रले, मुखड़े, टुकड़े, विभिन्न प्रकार की गतों और फ़रमाइशी तथा कमाली चक्रदारों सहित गणेश स्तुति परण की भी आकर्षक प्रस्तुति की। हारमोनियम संगति दिवाकर शर्मा ने की। हतोजा चौधुरी ने रास नृत्य की प्रस्तुति की।

उत्कर्ष शंकर मिश्र ने अपने कथक नृत्य का शुभारंभ शिव वंदना से किया। इसके बाद त्रिताल में

ठाठ, आमद, तोड़े और टुकड़ों की सुंदर प्रस्तुति की। पैरों से स्पष्ट कटते बोल, सुंदर हस्तक, तेज भ्रमरी और मनमोहक भावाभिनय के लिए उत्कर्ष खूब प्रशंसित हुए। युवा कथक नृत्यांगना अस्मिता मिश्रा का प्रभावशाली नृत्य आकर्षण का केंद्र रहा। अस्मिता ने नृत्य प्रदर्शन हेतु ग़ालिब की दर्द में डूबी चार ग़ज़लों को चुना था।

उस्ताद अहमद हुसैन और मोहम्मद हुसैन की ग़ज़लों ने भी लोगों का खूब मनोरंजन किया। शकील अहमद की ग़ज़लों में भी लोगों का दिल जीतने में कामयाब रहें। शकील प्रायः ऐसी रचनाओं का चुनाव गायन



अस्मिता और उत्कर्ष मिश्र



उस्ताद शकील अहमद

के लिए करते हैं जो आम आदमी के सरोकारों से जुड़ी होती हैं। भाषा भी सहज सरल होती है, इसलिए सीधे लोगों के दिलों में उतरती है। यामिनी और भावना रेड्डी का कुचिपुडी नृत्य भी खूब पसंद किया गया और पं. अजय प्रसन्ना का बाँसुरी वादन भी। शकील अहमद के साथ अगर मोनिश अहमद ने बहुत अच्छी तबला संगति की तो अजय प्रसन्ना के साथ पं. राम कुमार मिश्र ने। 'जश्न-ए-हिन्द' नामक इस त्रिदिवसीय आयोजन का समापन साबरी ब्रदर्स की क़व्वालियों के साथ हुआ। □

● पुस्तक परिचय



भगत सिंह : खंड 1-4

प्रकाशन विभाग, सूचना भवन,
सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड,
नई दिल्ली-110003

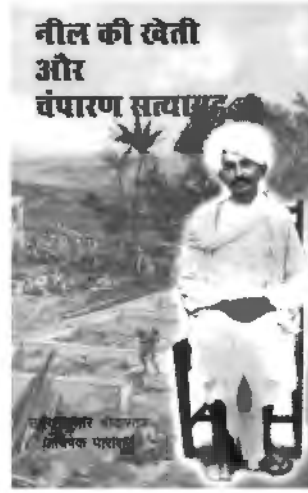
संपादक : चमन लाल

मूल्य : खंड 1- 170 रुपये

खंड 2- 165 रुपये

खंड 3- 150 रुपये

खंड 4- 200 रुपये



नील की खेती और चंपारण सत्याग्रह

प्रकाशन विभाग, सूचना भवन,
सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड,
नई दिल्ली-110003

लेखक : उदय कुमार श्रीवास्तव
अभिषेक पाराशर

पृष्ठ : 265

मूल्य : 110 रुपये

क्रांतिकारी स्वाधीनता सेनानी शहीद भगत सिंह का नाम भारतीय आजादी के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा है। भारतीय जनमानस में उनकी छवि एक लोकप्रिय युवा नेता के रूप में अंकित है। अपने आठ वर्ष के छोटे से राजनैतिक-सामाजिक जीवन में भगत सिंह की बौद्धिक-वैचारिक सक्रियता अभूतपूर्व रही। हिन्दी, पंजाबी, उर्दू और अंग्रेजी में उनका लेखन उनकी अपूर्व बौद्धिक प्रतिभा और व्यापक अध्ययनवृत्ति का परिचायक है। भगत सिंह के सुहृद अध्येता एवं शोधकर्ता प्रोफेसर चमन लाल ने बड़े ही परिश्रम से उनके लेखन को एकत्र एवं संपादित कर हिन्दी पाठकों को उपलब्ध कराया है।

भगत सिंह का यह लेखन 'प्रकाशन विभाग' और 'सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन' की संयुक्त प्रकाशन योजना के अंतर्गत चार खंडों में प्रकाशित किया गया है। पहले खंड में भगत सिंह के पत्र, तार, पर्व और अदालती बयान संकलित हैं। दूसरे खंड में विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में छपे भगत सिंह के लेख शामिल किए गए हैं। तीसरे खंड में क्रांतिकारियों के रेखाचित्र शामिल किए गए हैं। चौथे खंड में भगत सिंह की जेल नोटबुक है जिसमें 1929-31 के दौरान जेल में पढ़ी गई पुस्तकों से लिए गए नोट्स और उद्धरणों का हिन्दी अनुवाद है। इसके साथ ही क्रांतिकारी डॉन ब्रोन की आत्मकथा का भगत सिंह द्वारा किया गया अनुवाद भी इस खंड में प्रस्तुत है।

क्रांतिकारी के वैयक्तिक, राजनैतिक, सामाजिक और बौद्धिक जीवन को अंतरंगता से उद्घाटित करते ये दस्तावेज़ स्वाधीनता संग्राम का दहकता इतिहास है जिसे पढ़ना और जानना आज के पाठक की बुनियादी ज़रूरत है ताकि वह अपनी जड़ों से, अपनी परंपरा से जुड़ सके और अपने वर्तमान के ज्वलंत प्रश्नों के समाधान में उससे सहायता पा सके।

ये चारों खंड एक-दूसरे से स्वतंत्र हैं और संबद्ध भी। इन्हें अलग-अलग पुस्तक के रूप में भी पढ़ा जा सकता है और सिलसिलेवार संबद्ध दस्तावेजों के रूप में भी। 'भगत सिंह : अद्वितीय व्यक्तित्व' शीर्षक संपादक की भूमिका प्रथम खंड में दी गई है। आशा है हिन्दी पाठक समाज में इनका भरपूर स्वागत होगा।

'नील की खेती और चंपारण सत्याग्रह' नामक यह पुस्तक अंग्रेज निलहों द्वारा नील कृषकों पर की गई ज्यादतियों एवं शोषण की दास्ताँ बर्णित करती है। अंग्रेज निलहे, किसानों से जबरन नील की खेती करवाते और कई तरह के लगान वसूलते जिसके परिणामस्वरूप हजारों भूमिहीन मजदूर और गरीब किसान भूख एवं आर्थिक परेशानियों झेलने के लिए मजबूर थे। महात्मा गाँधी ने किसानों में व्याप्त असंतोष को नेतृत्व दिया। राजकुमार शुक्ल के प्रयासों से 1917 ई. में आंदोलन की अगुवाई के लिए महात्मा गाँधी चंपारण आए। चंपारण सत्याग्रह भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के इतिहास का एक महत्वपूर्ण अंग है। भारत में ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ गाँधीजी का यह पहला सत्याग्रह आंदोलन था।

नील की खेती और चंपारण सत्याग्रह ऐतिहासिक साक्ष्य भी है। यह ऐतिहासिक साक्ष्य इसलिए है क्योंकि नील की एक भी ऐसी डिब्बी नहीं हुआ करती थी, जिस पर किसी भारतीय किसान के खून का रंग न लगा हो। इसमें जबरन नील की खेती करने वाले उन किसानों की महागाथा है, जिनका शोषण इस कदर हुआ कि वह भूमिहीन मजदूर बनकर अपनी मृत्यु के नजदीक पहुँच गए थे। नील विद्रोह सबसे पहले बंगाल में सन् 1859-61 में हुआ था। यह विद्रोह अपने प्रारंभिक रूप में बिहार में असफल रहा किंतु गाँधीजी के मार्गदर्शन में जब सन् 1917 में दोबारा नील सत्याग्रह किया गया तो यह सफलता की उच्च सीमा को प्राप्त हुआ।

जब गाँधीजी ने चंपारण में सत्याग्रह किया तो पाया कि वहाँ के किसानों से अंग्रेजी सरकार जबरदस्ती 15 प्रतिशत भूमि पर नील की खेती करवाती थी तथा 20 कट्टे भूमि में से तीन कट्टे भारतीय गरीब किसानों द्वारा यूरोपियन (आयरलैंड, स्कॉटलैंड तथा वेल्स) निलहों को देना होता था। यह जानकर गाँधीजी को बहुत दुःख हुआ। यह एक प्रथा के रूप में विद्यमान हो गई, जिसे 'तिनकठिया प्रथा' नाम दिया गया। बिहार के बेतिया और मोतिहारी में उग्र विरोध हुआ। अंततः उसी वर्ष गाँधीजी ने चंपारण सत्याग्रह किया। नील सत्याग्रह के नायक नील की खेती करने वाले अधिकतर किसान थे। ब्रिटेन का उपनिवेशवाद भारत को आर्थिक रूप से कमजोर करता गया। अतः यह पुस्तक इस दिशा में एक आलोचनात्मक प्रयास है।

-प्रस्तुति : कान्ता रानी

वार्षिक संदर्भ ग्रंथ भारत 2020 और इंडिया 2020 का लोकार्पण



केंद्रीय सूचना और प्रसारण मंत्री प्रकाश जावड़ेकर ने 19 फरवरी, 2020 को वार्षिक संदर्भ ग्रंथ भारत 2020 और इंडिया 2020 का लोकार्पण किया। इस अवसर पर उन्होंने कहा कि यह पुस्तक प्रतियोगी परीक्षाओं में शामिल होने वाले लोगों सहित सभी के लिए संपूर्ण संदर्भ ग्रंथ है। उन्होंने कहा कि यह संदर्भ ग्रंथ एक परंपरा बन गया है और प्रतिदिन लोकप्रिय हो रहा है।

श्री जावड़ेकर ने दोनों प्रकाशनों का ई-संस्करण भी जारी किया। ई-संस्करण, टैबलेट, कंप्यूटर, ई-रीडर तथा स्मार्ट फोन पर पढ़ा जा सकता है। ई-बुक तकनीकी रूप से श्रेष्ठ अंतरराष्ट्रीय मानकों को पूरा करती है। ई-इंडिया में पाठक-अनुकूल कई विशेषताएँ हैं, जैसे हाईपरलिंक, हाईलाइटिंग, बुकमार्किंग तथा इंटरएक्टिविटी।

इंडिया/भारत-2020 में वर्ष के दौरान भारत और इसके विभिन्न सरकारी मंत्रालयों/विभागों/संगठनों की गतिविधियों, प्रगति और उपलब्धियों के बारे में विस्तृत और व्यापक जानकारी उपलब्ध है। यह संकलन का 64वाँ संस्करण है। इंडिया/भारत 2020 को सूचना और प्रसारण मंत्रालय के प्रकाशन विभाग और न्यू मीडिया विंग द्वारा संयुक्त रूप से प्रकाशित किया गया है। यह विशेष रूप से प्रतियोगी परीक्षाओं के इच्छुक प्रतियोगियों के लिए एक बहुप्रतीक्षित वार्षिक प्रकाशन है। इस पुस्तक में ग्रामीण से शहरी, उद्योग से विज्ञान और प्रौद्योगिकी से मानव संसाधन विकास तक देश के विकास के सभी पहलुओं को शामिल किया गया है। यह संग्रह वर्ष के दौरान सरकार के प्रमुख कार्यक्रमों तथा महत्वपूर्ण घटनाओं की झलक देता है। विगत वर्षों के दौरान इसने शोधकर्ताओं, सम्मानजनक योजनाकारों, नीति-निर्माताओं, शिक्षाविदों, मीडिया पेशेवरों के बीच सम्मानजनक जगह बनाने का गौरव हासिल किया है।

पुस्तक का मूल्य 300 रुपये है और ई-बुक 225 रुपये में उपलब्ध है।

ये पुस्तकें निम्नलिखित लिंक पर प्रकाशन विभाग की नीचे दी गई वेबसाइट से ऑनलाइन खरीदी जा सकती हैं:

<https://www.publicationsdivision.nic.in/Index.php?route=product/pbook>

पुस्तकें अमेज़न और गूगल प्ले स्टोर से भी खरीदी जा सकती हैं।

लोकार्पण कार्यक्रम में सूचना और प्रसारण मंत्रालय के सचिव रवि मित्तल तथा अन्य वरिष्ठ अधिकारियों ने हिस्सा लिया।

प्रकाशन विभाग राष्ट्रीय महत्व के विषयों, भारत की समृद्ध संस्कृति और साहित्यिक विरासत को दर्शाने वाली पुस्तकों और पत्रिकाओं का प्रकाशक है। 40 के दशक में अपनी स्थापना के बाद से प्रकाशन विभाग अंग्रेजी और हिन्दी के साथ-साथ सभी प्रमुख भारतीय भाषाओं में किफायती मूल्य पर पुस्तकों का प्रकाशन कर रहा है। पिछले कुछ वर्षों में प्रकाशन विभाग ने साहित्य एवं साहित्यिक हस्तियों के साथ-साथ विभिन्न विषयों पर गुणवत्तापूर्ण पुस्तकों का प्रकाशन किया है। ऐसी पुस्तकें संग्रह में ताज़गी लाने के अलावा इसे पठनीय और प्रासंगिकता की बाधाओं से मुक्त बनाती हैं।

प्रकाशन विभाग में 2020 से अधिक डिजिटल पुस्तकें हैं। वर्तमान में डिजिटल अभिलेखागार में 2185 से अधिक पुस्तकों का भंडार है। इनमें से 405 ई-पुस्तकों को अमेज़न और गूगल प्ले जैसे विभिन्न प्लेटफॉर्मों के माध्यम से बिक्री के लिए रखा गया है। ई-पुस्तकों की 35,000 से अधिक प्रतियाँ बिक चुकी हैं। इसके अलावा प्रकाशन विभाग ने विभिन्न ई-कॉमर्स वेबसाइटों पर पुस्तकों की संख्या बढ़ाते हुए 370 से अधिक कर डिजिटल प्रकाशन पर अपनी उपस्थिति का विस्तार किया है।

डाक तार पंजीयन सं. डी एल (एस) - 05/3222/2018-20 बिना पूर्व भुगतान के साथ आर.एम.एस. दिल्ली से पोस्ट करने के लिए लाइसेंस यू (डी एन)-49/2018-20

Postal Regn. No. DL (S) - 05/3222/2018-20

Licenced U (DN) - 49/2018-20 to post without pre-payment at RMS Delhi

● 10 मार्च 2020 को प्रकाशित

● 21-22 मार्च 2020 को डाक द्वारा जारी

दिल्ली डाक आर एन आई 701/57

Delhi Postal RNI 701/57

● वार्षिक मूल्य : ₹ 230

